TIGHT BINGING BOOK

UNIVERSAL LIBRARY
OU_186011
UNIVERSAL LIBRARY

-557—13-7-71- -3,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

No. H809 R19S Accession No. H1354

ıor पाण्डेय, सुधाकर.

संक्षिप्त हिन्दी साहित्य और साहित्यकार. 1956.

s book should be returned on or before the date last marked below.

हिंदी साहित्य का क ख ग

Approved for Higher Secondary (3-year course), Higher Secondary Multipurpose and All India Higher Secondary Examinations, 1970 & 1971, by the Central Board of Secondary Education, New Delhi vide their Circular Nos : F/69-70/2/10343-985 of 29-3-67 and F/69-70/1/9194-413 of 10-3-67.

सुधाकर पांडेय

राधाकृष्ण प्रकाशन

© १९६६, सुधाकर पांडेय, वाराणसी

मूल्य

३.५०

प्रकाशक
ओंप्रकाश,
राधाकृष्ण प्रकाशन,
२, अंसारी रोड, दरियागंज,
दिल्ली-६

मुद्रक
राष्ट्रभारती प्रेस, दरियागंज, दिल्ली-६

क्रम

प्रस्तावना ९

आदिकाल [आठवीं से बारहवीं शताब्दी] १३

सिद्धों और नाथों का साहित्य, नाथ साहित्य, जैन साहित्य, संप्रदाय-मुक्त जन-साहित्य—अब्दुर्रहमान, जल्हण, खुसरो, विद्यापति।

शौर्य-शृङ्गार-काल [ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी] २३

युग की रचनाएँ, प्रबंध काव्य—खुमान रासो, पृथ्वीराज रासो; मुक्तक—बीसलदेव रासो, आल्हा खंड; भाषा-शैली।

मध्यकाल (पूर्व)—[चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी] ३२

साधना-साहित्य, निर्गुण साहित्य, संत-काव्य की रूप-रेखा, सूफ़ी-साहित्य की रूपरेखा, रामभक्ति-साहित्य की रूपरेखा, कृष्णभक्ति-साहित्य की रूपरेखा, कबीर, रैदास, दादू, सुन्दरदास, सिख गुरु तथा अन्य संत कवि, सहजोबाई, दयाबाई।

सूफ़ी-काव्य-परम्परा : प्रेमाख्यानक काव्य ६१

कुतुबन, मंझन, जायसी—पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम, कहरानामा, जायसी का रहस्यवाद; उस्मान, शेख नबी, कासिम शाह, नूर मुहम्मद।

रामभक्ति-साहित्य ७१

रामानन्द, महाकवि तुलसीदास—तुलसी-साहित्य, तुलसी का व्यक्तित्व, साहित्य-सौन्दर्य; अन्य रामभक्त कवि, अग्रदास, नाभादास आदि।

कृष्णभक्ति-साहित्य ८१

सूरदास, कुंभनदास, कृष्णदास, नंददास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास, हित हरिवंश, स्वामी हरिदास, मीरा, नरोत्तमदास, रसखानि।

प्रसिद्ध दरबारी कवि ९८

रहीम, गंग, नरहरि बंदीजन, अन्य राज्याश्रित कवि।

मध्यकाल (उत्तर)—[सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी] १०१

युग का साहित्य और उसकी परंपरा, भाषा, रीति-काव्य, साहित्य-प्रेरणा के स्रोत, रीतिशास्त्र, केशवदास; शृंगार-कवि—मतिराम, चिंतामणि, भिखारीदास, तोषनिधि, रसलीन, बिहारी, देव, सेनापति, पद्माकर; प्रेम के गायक कवि—आलम और शेख, घन आनंद, बोधा; राष्ट्रीय कवि-परंपरा—भूषण, लाल कवि।

आधुनिक काल—नवयुग का आरम्भ १२५

हिंदी गद्य, गद्य की परंपरा, मुंशी सदासुखलाल 'नियाज', मुंशी इंशाअल्ला खाँ, लल्लू जी लाल, पंडित सदल मिश्र, गद्य के नव-निर्माण की व्यापक दिशा, राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मण सिंह, अन्य गद्यकार, संवत् १९२५-१९५० तक, भारतेन्दु, गद्य-साहित्य, प्रतापनारायण मिश्र,

बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन, लाला श्रीनिवास दास, ठाकुर जगमोहन सिंह, राधाचरण गोस्वामी, युग-कविता, नाटक, कथा-साहित्य, समालोचना आदि।

बीसवीं शताब्दी—नई चेतना १४४

काव्य रचना, हरिऔध तथा अन्य, रत्नाकर, मैथिलीशरण गुप्त, राय देवीप्रसाद पूर्ण, पं० नाथूराम शंकर शर्मा, पं० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही 'त्रिशूल', पं० रामनरेश त्रिपाठी, जगदंबा-प्रसाद 'हितैषी', अनूप शर्मा, ठाकुर गोपालशरण सिंह, सुभद्राकुमारी चौहान, गुरुभक्त सिंह 'भक्त', पं० श्यामनारायण पांडेय। काव्य के विभिन्न वाद—छायावाद, रहस्यवाद—जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा; प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता, उन्मुक्त कवि—बच्चन, माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर तथा अन्य।

हिन्दी गद्य का स्वर्णकाल १७०

कथा-साहित्य—कहानी, उपन्यास; नाटक-एकांकी, निबंध, आलोचना आदि।

अपनी प्रिय पुत्री चप्पू (आराधना) को
जो साहित्य का ककहरा पढ़ने के लिए
अब शेष न रही।

—सुधाकर पांडेय

क ख ग ....

हिंदी-साहित्य का यह ककहरा उसके साहित्य की संक्षिप्त किंतु वैज्ञानिक रूपरेखा प्रस्तुत करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है। आठवीं शताब्दी से लेकर अद्यावधि उसके विकास का संकेत इसमें है। प्रयत्न यह किया गया है कि इसके माध्यम से हिंदी-साहित्य की विविध प्रवृत्तियों एवं उसके इतिहास का सहज ही बोध हो सके।

प्रस्तावना

हिंदी न केवल अब हमारे देश के साहित्य की अभिव्यक्ति का साधन है, अपितु राष्ट्रभाषा भी है। जब हिंदी-साहित्य के अतीत की चर्चा की जाती है, तब प्रायः विद्वान् इसे मध्यदेश (आज के दिल्ली, हरियाना, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश आदि हिंदी भाषाभाषी प्रदेश) की भाषा ठहराते हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्रायः हजारों वर्ष से मध्यदेश का साहित्य हिंदी में लिखा जा रहा है, पर यह मत ऐसी खोजों पर आधृत है जो स्वयं पूर्ण नहीं है। हिंदी का खोज-संबंधी अधिकांश कार्य मध्यदेश में ही हुआ है, अभी यह कार्य समस्त भारत में नहीं हुआ। फिर भी इस अभाव के होते हुए जो साहित्य खोज द्वारा प्राप्त किया जा सका है, उसको भी यदि आधार बनाया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि हिंदी केवल मध्यदेश तक ही सीमित नहीं रही, अपितु उसकी महत्ता अखिल भारतीय रही है और समस्त भारत में उसके साहित्य का प्रणयन सदा से होता रहा है।

भारत की सांस्कृतिक एकसूत्रता में आबद्ध करनेवाले तत्त्व धार्मिक चेतना-सम्पन्न जीवन में प्रतिष्ठित मान्यताएँ हैं। ये मान्यताएँ कितनी प्राचीन हैं, इसकी निश्चित तिथि का निर्धारण सर्वमान्य रूप से इतिहास-कार करने में असमर्थ है। पर ये मान्यताएँ कई हजार वर्ष प्राचीन हैं—इसमें संदेह नहीं। धर्मयात्रा का व्यापक विधान सर्वत्र धर्मशास्त्र के अंग के रूप में अत्यंत प्राचीन काल से ही मिलता है। सभी धर्मों के महान तीर्थ हिंदी-क्षेत्र में स्थित हैं, जहाँ अत्यंत प्राचीन काल से ही देश के ही नहीं, विदेश के लोग भी धर्मयात्रा के लिये आते रहे हैं। देश के सभी भू-भागों के लोग इस प्रदेश में निरन्तर धर्मयात्रा करते रहे हैं। अतएव यहाँ बोली जानेवाली भाषा का परिचय वे रखते ही हैं, साथ ही उसका उपयोग करने में गौरव का भी अनुभव करते रहे हैं। व्यापारिक दृष्टि से भी यह प्रदेश सदैव से व्यापार का केन्द्र रहा है। व्यापार से संबंधित लोग भाषा के माध्यम द्वारा निकट संपर्क-स्थापन में विशेष-लाभान्वित होते हैं। अतएव इस प्रदेश की भाषा का प्रचलन सांस्कृतिक, सामरिक, राजनीतिक, व्यापारिक सभी दृष्टियों से अखिल भारतीय रहा है। जो खोज अभी तक हुई है, उसी को यदि कसौटी पर रखा जाय तो

यह स्पष्ट हो जायगा कि हिंदी-साहित्य का प्रणयन न केवल मध्यदेश में हुआ, अपितु समस्त भारत में उसका प्रणयन होता रहा। परिमाण की विशेषता भले ही मध्यप्रदेश में रही हो।

जैन, बौद्ध, संत, वैष्णव साहित्य का निर्माण समस्त भारत में हुआ तथा हिन्दी में भी रचना इनके प्रभावक्षेत्र में हुई। राजस्थान का साहित्य तो हमारे गौरव की वस्तु है ही। महाराष्ट्र में भी हिन्दी की रचना होती रही। शाहजी, शिवाजी, महादाजी सिंधिया, दौलतराव सिंधिया, आदि राजनैतिक महापुरुष तथा ज्ञानदेव, मुक्ता बाई, तुकाराम आदि संत भी हिंदी के रचनाकार थे। ट्रावनकोर के केरलपति गर्भ श्रीमान् भी हिन्दी के कवि थे। बंगाल में विद्यापति की रचना तथा दक्खिनी-साहित्य हिन्दी के व्यापक प्रसार के राष्ट्रीय महत्त्व का आख्यान करता है। पूरे मुग़ल साम्राज्य में ब्रजभाषा की चलन थी।

आज सभी वर्गों के लोग, सभी राज्यों में हिंदी की रचना करने में गौरव का अनुभव करते हैं। वास्तव में हिंदी साहित्य का सदैव से अखिल भारतीय महत्त्व रहा है।

हिंदी के अंतर्गत जो साहित्यिक और लौकिक बोलियां आती हैं उनका प्रसार इस प्रकार है —

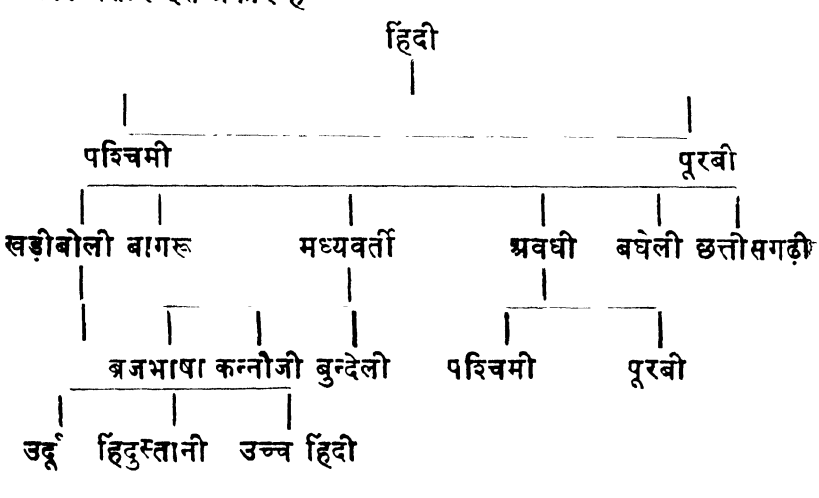

- उर्दू
  - उत्तरी रेखता
    - देहलवी
    - लखनवी
  - दक्खिवी

देशी भाषाओं में हिन्दी का उद्भव सबसे पहले हुआ, यह बतलाने की कदाचित् आवश्यकता नहीं। हिन्दी जिस परंपरा को लेकर चल रही है, वह शौरसेनी की परंपरा है, लेकिन उसके साथ ही इसका मागधी या अर्धमागधी से भी पूरा लगाव है। यही कारण है कि संस्कृत तथा प्राकृत से संबंध रखनेवाली अन्य देशी भाषाओं के प्राचीन साहित्य का लगाव इसी से है, अर्थात् गुजराती, मराठी, बंगला आदि के प्राचीन साहित्य का। रचना की पुरानी परंपरा हिंदी की ही है अर्थात् हिंदी इन देशी भाषाओं की बड़ी बहन है।

इस पुस्तक में हिंदी-साहित्य का अध्ययन निम्नांकित काल-विभाजन के आधार पर किया गया है—

- आदिकाल
  1. प्रस्तावना काल (आठवीं से बारहवीं शताब्दी)
  2. शौर्य शृंगार (चौदहवीं शताब्दी तक)
- मध्यकाल
  3. पूर्व-साधना-साहित्य (सत्रहवीं शताब्दी तक)
  4. उत्तर-रीति-साहित्य (उन्नीसवीं शताब्दी तक)
- आधुनिक काल
  5. नव युग (बीसवीं शताब्दी के पूर्व तक)
  6. बीसवीं शताब्दी।

इन कालों को भी विविध खंडों में बाँटा गया है ताकि क्रमबद्ध अध्ययन किया जा सके और उस काल की प्रवृत्तियों का बोध हो सके। सामान्य परिचय में इस बात का परिचय दे दिया गया है कि किन कारणों से यह काल-विभाजन किया गया है तथा क्यों नामकरण किया गया है। काल विशेष की मूल धारा के साथ अन्य धाराओं का भी यथा-स्थान वर्णन कर दिया गया है।

आदिकाल

आठवीं से बारहवीं शताब्दी

प्रत्येक भाषा का विकास बोली से आरंभ होता है और बोली जब भावाभिव्यक्ति की क्षमता ग्रहण कर लिखित साहित्य का रूप ग्रहण करती है तब बोली के विकास का पता लगाना साहित्य शास्त्रियों के लिए अत्यंत जटिल कार्य हो जाता है। बोलियों का पुंजीभूत तत्त्व किसी भी भाषा की शक्ति एवं गति होता है। प्रारंभ में हिन्दी भाषा का विकास कब, किस भाँति हुआ, उसका बीजारोपण कैसे हुआ, इसका पता लगाना आज एक अत्यंत दुरूह कार्य है, क्योंकि बोली को साहित्य का रूप धारण करने में सदियों लग जाती हैं। बोली का साहित्य लिखा भी नहीं गया और जो लिखित साहित्य मिलता भी है वह बाद में लिखा जाने के कारण या मौखिक परंपरा से प्राप्त होने के कारण अपने पूर्व रूप में नहीं रह गया है। प्राप्त पदों में उस समय की भाषा भी नहीं मिलती। मूल भाषा में इतरयुगीन अनेक बोलियाँ बराबर मिलती गयीं, अब मूल का पता लगाना संभव नहीं।

हिंदी-साहित्य का आदिकाल कब से प्रारंभ होता है, यह निश्चित रूप से न तो आज तक बताया जा सका, न बताया जा सकता है, क्योंकि जो पुरानी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है, दूसरे इतना अधिक साहित्य या तो विनष्ट हो चुका है या जीर्ण-शीर्ण इधर-उधर बेठनों में पड़ा है कि आज तक हिंदी-साहित्य के प्रारंभ का निश्चित पता अनेक प्रयत्नों के बाद भी नहीं लगाया जा सका।

यह तो सर्वसम्मत है कि बौद्धों और जैनों ने अपने धर्म-साहित्य का प्रचार लोकभाषा में किया था और यह भी निर्विवाद रूप से सत्य माना जाता है कि अपभ्रंश से ही हिंदी का उद्भव हुआ है। इधर साहित्यान्वेषियों ने अनेक ग्रन्थों का पता लगाया है जिनके द्वारा हिंदी के आदि-

युग के संबंध में कुछ नवीन बातों पर प्रकाश पड़ता है। इस युग में प्राप्त रचनाओं में दो प्रकार की कृतियां मिलती हैं। उनमें कुछ तो विशुद्ध सांप्रदायिक हैं और कुछ संधिकालीन लोकभाषा की रचनाएँ हैं।

सिद्धों और नाथों का साहित्य

सांप्रदायिक साहित्य के अन्तर्गत वह साहित्य परिगणित किया जाता है जो सिद्ध एवं नाथ संप्रदाय के संतों ने अपने मत के प्रचार-प्रसार के लिए लिखा था।

नाथ पंथ के नाम से जिस पंथ का प्रवर्तन गोरखनाथ तथा मत्स्येंद्र-नाथ ने किया, सिद्धों द्वारा उस पंथ का उद्भव संवत् ७६७ में माना जाता है। ८४ सिद्धों का समय संवत् ७६७ से सं० १२५७ वि० तक है। इन्हीं के द्वारा संत-साहित्य की मूल शाखा, जो कबीर आदि द्वारा बाद में पल्लवित की गई, प्रवर्तित हुई। कबीर ग्रंथावली का यह दोहा इस बात का प्रमाण है—

धरती अरु असमान बिचि दोई तू बड़ा अवद्ध।
षट दर्शन षसे षड्या अरु चौरासी सिद्ध॥

सिद्धों की कविता जनभाषा में थी। उनमें उनके मत-प्रचार-संबंधी तथा उनकी साधना-संबंधी रचनाएँ हैं। उनमें साहित्यिक तत्त्व नहीं के बराबर हैं। सिद्धों की भाषा भी अनेक रूपों में मिलती है। इससे यह बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि ५०० वर्षों के साहित्य में जनभाषा के अनेक रूप हुए जो स्वाभाविक भी था।

सरहपा का नाम इन ८४ सिद्धों में प्रथम सिद्ध के रूप में लिया जाता है। अन्य सिद्ध कवियों में भसुकिपा, लुइपा, निसपा, डोम्बिपा, दारिकपा, गुंडरिपा, कुकरिपा, कमरिपा, कण्हपा, गोरक्षपा, तिलोपा, शांतिपा, तंतिपा, महीपा, भदेपा, धर्मपा आदि के नाम लिये जाते हैं।

नाथ साहित्य

८४ सिद्धों में गोरक्षपा का नाम भी लिया जाता है। यह सिद्धों में अत्यंत तेजस्वी सिद्ध हुए और इन्होंने स्वयं अपना मार्ग चलाया। सिद्धों के

द्वारा प्रवर्तित पंथ से अनेक अर्थों में इनका संप्रदाय अलग था। ये अपने समय के अत्यंत प्रभावशाली धार्मिक नेता थे। इन्होंने हठयोग का प्रचार उन क्षेत्रों में किया जिन क्षेत्रों में वज्रयानी सिद्धों की बीभत्स लीला व्याप्त नहीं थी। वज्रयानी बुद्धों का प्रभावक्षेत्र पूरबी भारत था और इन्होंने पश्चिमी भारत को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। डॉ० बड़थ्वाल और बाबू श्यामसुन्दर दास इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य मानते हैं।

गोरखनाथ के हठयोग की साधना में एकेश्वरवाद होने के कारण यह मत मुसलमानों के लिए भी आकर्षक था, क्योंकि इसमें मूर्तिपूजा और देवोपासना की व्यवस्था नहीं थी। साथ ही पंडितों द्वारा पोषित धर्म के बाह्याडंबर की भर्त्सना भी की जाती थी। साधना इनका आदर्श था। बौद्धों से भी ये प्रभावित थे। नाद और बिंदु इनकी साधना के अंग थे। इनके धर्म में अधिकतर शूद्र कही जाने वाली जातियाँ पारित हुईं, क्योंकि उनके लिये इस मत में बहुत अधिक आकर्षण था। बुद्धि के विकास की दृष्टि से भी स्वल्प बुद्धि के लोग ही इस संप्रदाय में आए। आज भी नाथ-पंथी साधु गेरुआ वस्त्र पहन इधर-उधर राजा भर्तृहरि और गोपीचंद के गीत गाते घूमते हैं। यद्यपि नाथ संप्रदाय में जो कुछ भी साहित्य निर्मित हुआ, वह विशुद्ध सांप्रदायिक है, तो भी भाषा की दृष्टि से तथा हिंदी-साहित्य की संत-परंपरा को आगे चलकर प्रभावित करने की शक्ति के कारण उसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

इनकी जो रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। उन्होंने लोकभाषा में भी साहित्य की रचना की है। उनके कहे जाने वाले हिंदी ग्रन्थों के नाम हैं—सबदी, पद, अभैमात्रा जोग, सिष्यादरसन, प्राण-साँकली, आत्मबोध, मछींद्र गोरख बोध, जाती भौरावली, गोरख गणेश-संवाद, गोरखदत्त संवाद, सिद्धांत जोग, ज्ञान तिलक, केथड़ा बोध।

सबदी को कुछ लोग उनकी अत्यंत प्रामाणिक रचना बतलाते हैं, पर उस संबंध में भी अधिक अधिकारपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इनकी भाषा में राजस्थानी, गुजराती तथा खड़ी बोली का अत्यन्त प्राचीन रूप दिखाई पड़ता है। साथ ही इनके साहित्य ने बाद के निर्गुण साधकों को बहुत कुछ

नाम लिया जाता है।

स्वयंभूदेव न केवल व्याकरण और छंद शास्त्र के ज्ञाता थे अपितु एक साहित्यिक भी थे। स्वयंभूदेव के निम्नलिखित चार ग्रंथों की चर्चा की जाती है—(१) पउम चरिउ: या पद्म-चरित्र, जैन रामायण। (२) रिट्ठिमि चरिउ: या अरिष्टनेमि चरित, हरिवंशपुराण। (३) पंचमि चरिउ: या नागकुमार चरित। (४) स्वयंभू छंद। इन्होंने कवि के रूप में अत्यंत सफलता प्राप्त की।

हेमचंद्र गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह और उनके भतीजे कुमारपाल के श्रद्धास्पद थे। इनका रचनाकाल संवत् १२१६ से १२२९ है। प्रतिष्ठा की दृष्टि से इनकी टक्कर का दूसरा आचार्य जैनियों में नहीं हुआ। इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों की साहित्यिक रचनाओं का अपने बृहद् व्याकरण-ग्रंथ 'सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन' में उदाहरण दिया है, इससे हेमचंद्र के पूर्ववर्ती साहित्य की एक झाँकी मिल जाती है।

सोमप्रभ सूरि अन्हिलवाड़ गुजरात के रहनेवाले जैन पंडित थे। 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक ग्रंथ की इन्होंने रचना की। प्रायः प्राकृत में होने पर भी बीच-बीच में संस्कृत श्लोक और अपभ्रंश के दोहे उदाहरण के रूप में इन्होंने प्रस्तुत किए हैं, जिनमें कुछ तो पूर्ववर्ती कवियों के हैं और कुछ स्वयं उनके रचे हैं।

जिन पद्म सूरि और विनयचंद्र सूरि जो सं० १२५७ के लगभग उत्पन्न माने जाते हैं और धर्मसूरि, और विजयसिंह सूरि जिनका आविर्भावकाल क्रमशः संवत् १२६६ और १२८८ माना जाता है, प्रसिद्ध जैनी कवि माने जाते हैं।

जैन कवियों की यह परंपरा बाद में भी चलती रही और वे बराबर अपने धर्म के प्रसार के लिये कार्य करते रहे। ऊपर के तथ्यों से यह बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि आध्यात्मिक-सांप्रदादिक साहित्य का निर्माण इस युग में अत्यधिक परिमाण में हुआ जिसके भीतर हिंदी भाषाविदों के लिए अमूल्य संपत्ति संरक्षित है। सिद्धों और नाथों की अपेक्षा अध्यात्म के क्षेत्र में कविता का आधार बनाकर अपने संप्रदाय की श्री-वृद्धि करनेवाले

जैन आचार्यों की रचनाओं में काव्य की छटा का दर्शन अधिक मात्रा में होता है, क्योंकि उन्होंने न केवल अपने तीर्थंकरों की जीवनगाथा प्रस्तुत की, अपितु लौकिक प्रेम-कथाओं की भी रचना की। राम का चरित्र (पउम चरित्र) गान भी किया। नीति-संबंधी रचनाएँ भी लिखीं। यद्यपि यह सब इसलिये किया गया कि जैन सिद्धांतों की प्रतिष्ठा जन-मन में, उसकी सार्थकता का बोध करा कर, व्यापक रूप से की जा सके।

काव्य के बाह्याकार के रूप में भी इन लोगों के प्रयोग में लाए गए छंदों का उपयोग बाद के साहित्य में व्यापक रूप से किया गया। दोहा और चौपाई पद्धति पर सिद्धों ने व्यापक परिमाण में रचना की। सोरठा आदि का उदाहरण कवियों के विवेचन के समय प्रस्तुत किया गया। यह दोहा, चौपाई पद्धति उनके बाद आज तक बराबर चरितगान के लिये अपनायी जाती रही है। गीत की शैली भी उन्होंने अपनायी। पद्धति और हरिगीतिका छंदों का भी प्रयोग इन कवियों ने किया। हिंदी गद्य के निर्माण का आरंभ भी इसी युग से माना जाता है। इन सभी दृष्टियों से यदि देखा जाय तो हिंदी का यह प्रस्तावना काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; विशेषकर भाषा के विकास की दृष्टि से।

संप्रदाय-मुक्त जन-साहित्य

इन संतों ने जीवन के लौकिक पक्ष की अभिव्यजना, नारी का शृंगारयुक्त चित्रण, ऋतुओं का वर्णन आदि भी किया किन्तु उनका ध्येय इस वर्णन में लौकिक जीवन में निस्सारता का प्रसार कर, अलौकिक अध्यात्म पक्ष की प्रबल स्थापना कर लोगों को अपने संप्रदाय की ओर उन्मुख करना था। पर इस समय का सभी साहित्य इस घेरे में न घिरा रहा होगा क्योंकि सदैव ऐसे साहित्य का निर्माण होता रहता है जो उन्मुक्त हृदय से लिखा जाता है।

इस युग के ऐसे साहित्य पर दृष्टि डालने से लौकिक शृंगार-प्रधान तथा चमत्कार, कौतूहल और मनोरंजनप्रधान रचनाओं का दर्शन होता है। इन रचनाओं में लौकिक दृष्टि व्यापक रूप से दिखलाई पड़ती है। इस दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है। लोक-जीवन में आस्था की भावना

बनाए रखने में इनका योगदान था। ऐसे अनेक कवियों के होने की संभावना सहज ही की जा सकती है पर अभी तक अब्दुर्रहमान, जल्हण और खुसरो की रचनाएँ ही सामने आ सकी हैं।

अब्दुर्रहमान : अब्दुर्रहमान मुलतान के जुलाहा थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १३६७ बताया जाता है। भारतीय आदर्शों से अनुप्राणित हिंदू संस्कारों के प्रति श्रद्धानत यह प्रौढ़ कवि अपने 'सनेह रासय' (संदेश-रासक) के लिये प्रसिद्ध है। ऋतुओं का सहारा लेकर कवि ने वियोगिनी का संदेश अत्यंत मनोहर ढंग से प्रिय के पास भिजवाया है।

जल्हण : जल्हण की स्फुट रचनाएँ मात्र प्राप्त हुई हैं। यह दरबारी कवि थे तथा राजा कर्ण कर्णपुरी के आश्रित और जबलपुर के निवासी बताए जाते हैं। इन्होंने शृंगार की प्रौढ़ रचनाएँ की हैं।

खुसरो : खुसरो की गणना हिंदी के उन कवियों में की जाती है जिन्होंने रूढ़ि से अलग हटकर अपनी आँखों से लोकजीवन का दर्शन कर, नयी भावना से अनुप्राणित हो काव्य का सर्जन किया। ये फारसी के विद्वान्, लेखक तथा जनप्रिय कवि थे। शुक्ल जी ने इनके रचनाकाल का आरंभ संवत् १३४० के आस-पास माना है। ये स्वभाव से सहृदय, विनोद-प्रिय और जनजीवन में रस लेनेवाले व्यक्ति थे। जनता में प्रचलित काव्य-परिपाटी को उन्होंने अपनाया। ये हिंदी में अपनी पहेलियों तथा मुकरियों के लिये प्रसिद्ध हैं। इनके लिखे कुछ गीत और दोहे भी पाये जाते हैं। इनकी भाषा दो प्रकार की है। पहेलियाँ, मुकरियाँ ठेठ खड़ी बोली में, जिसमें कही-कहीं ब्रजभाषा का रंचक मिश्रण भी है, तथा गीत आदि उन्होंने ब्रजभाषा में लिखे हैं। यद्यपि खुसरो की पहेलियों आदि में बहुत से प्रक्षिप्त अंश भी जोड़ दिए गए हैं तथा परंपरा से लोगों द्वारा कहे-सुने जाने के कारण उनमें कुछ मिश्रण या भाषा का रूप भी परिवर्तित हो गया है, तो भी उनकी रचनाओं में तत्कालीन खड़ी बोली का वह रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है जो उनके समय की बोल-चाल की भाषा का था। खुसरो की सबसे बड़ी देन भाषा के क्षेत्र में ही है।

विद्यापति : युग के सर्वाधिक प्राणवान कवि विद्यापति हैं। इनके

गीत सैकड़ों वर्ष से गाए जाते हैं। आज भी बिहार में इनकी नचारियाँ आस्थापूर्वक गायी जाती हैं। इनकी रचनाएँ अत्यन्त शृंगारिक, भावप्रवण तथा हृदय को मुग्ध करने वाली हैं। तिरहुत प्रदेश के विसपी (दरभंगा) ज़िले के जरैल परगना के एक गाँव में इनका जन्म हुआ था। जिस गाँव में उत्पन्न हुए थे, वह गाँव राजा शिवसिंह से, जो इनके अंतरंग मित्रों में थे, दानस्वरूप मिला था तथा इन्हें उनके द्वारा 'अभिनव-जयदेव' की सम्मानित उपाधि भी मिली थी। विद्यापति मैथिली एवं अवहट्ठ (अपभ्रंश) के कवि हैं। ये स्वयं शैव थे। इनके पिता का नाम गणपति ठाकुर तथा माँ का नाम हंसिनीदेवी था। इनके पिता राजा गणेश्वर के दरबार के सभापंडित थे तथा ये स्वयं उनकी परंपरा के उस राजदरबार में वाहक हुए। विद्यापति संस्कृत, अपभ्रंश, देशी भाषा, फारसी तथा मैथिली के मर्मज्ञ थे। वे नृत्य के साथ-साथ संगीत-कला से भी परिचित थे। यद्यपि विद्यापति के तेरह-चौदह ग्रंथ बताए जाते हैं, तो भी उनकी ख्याति सर्वाधिक शृंगार-रसपूर्ण पदों के कारण है। इन्होंने नीति, उपदेश, कर्मकांड तथा आश्रयदाताओं से संबंधित रचनाएँ भी की हैं। इनकी पदावली मैथिली हिंदी में है। समय-समय पर लिखे गए इन पदों ने बिहार, बंगाल, आसाम, उड़ीसा के वैष्णव भक्तों को न केवल अनुप्राणित मात्र किया अपितु भाषा-काव्य में राधा-कृष्ण की परंपरा का संपादन भी किया।

इन पदों में अधिकांश राधाकृष्ण संबंधी शृंगार-विषयक पद हैं और कुछ पद दुर्गा, शिव और गंगा की भक्ति से संबंध रखते हैं। वास्तव में शृंगार के पदों के कारण ही यह कवि अमर है। जयदेव के 'गीतगोविंद' से विद्यापति अत्यन्त प्रभावित दीखते हैं तथा उनका अनुगमन भी करते हैं। सूक्ष्म निरीक्षण, सुंदर कल्पना, शृंगार की व्यापक अनुभूति इनकी रचनाओं में सर्वत्र दिखलाई देती है। सौंदर्य की गहरी अनुभूति इनकी रचनाओं में व्यापक रूप से अभिव्यक्त हुई। उनकी कल्पना भी अनूठी है। विद्यापति प्रेम, शृंगार तथा सौंदर्य के अपने युग के सर्वोत्तम कवि हैं।

'कीर्तिलता' के कारण इनकी अत्यंत महत्ता है। अपने आश्रेयक तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह की प्रशस्ति में विद्यापति ने इस ग्रंथ का प्रणयन

किया। यह ग्रंथ पूर्वी अपभ्रश में लिखा गया है तथा इसमें संस्कृत के तत्सम् शब्द भी गृहीत हुए हैं। इसमें बीच-बीच में देशी भाषा या बोली के भी शब्द हैं। इस माने में यह ग्रंथ प्राकृत की रूढ़ियों से अपने को मुक्त करता हुआ आभासित होता है।

यह ग्रंथ ऐतिहासिक है और कीर्तिसिंह का चरितगान करते हुए भी उसमें ऐतिहासिक तथ्यों की हत्या नहीं की गई है। उस काल के लोगों का, अधिकारियों का, युद्धों का, कवि ने जीता-जागता चित्र खींचा है जो यथार्थ की अभिव्यक्ति के साथ सरस काव्य का प्रतीक बन गया है। स्थान-स्थान पर विषय के अनुसार छंदों का परिवर्तन इस भाँति किया गया है कि कविता में जीवनमयी सजीवता आ गई है। यह ग्रंथ अंत और आरंभ में संस्कृत भाषा और छंद में लिखा गया है और बीच में अपभ्रंश भाषा के दोहा, चौपाई, छप्पय, गाथा आदि छंदों का व्यवहार किया गया है। 'कीर्तिलता' में प्रेम-कथा सुंदर ढंग से वर्णित है।

शौर्य-श्रृंगार काल

[ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी]

हिन्दी के प्रायः सभी विद्वान् हिन्दी के आदिकाल का समय दसवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक मानते हैं। विशुद्ध अपभ्रंश से लोक-भाषा की ओर हिंदी इस युग में अधिक झुकी हुई दिखाई पड़ती है और युग की भाषा स्पष्ट रूप से अपभ्रंश की भाषा से कुछ भिन्नता लिये हुए स्वतन्त्र ही है। यद्यपि इस युग में भी काव्य की उसी परिपाटी को ग्रहण किया गया जो परंपरा से प्राप्त थी तो भी इस युग में भाषा की दृष्टि से पद्य-रचना में तद्भव शब्दों का प्रयोग बढ़ता गया।

इस युग में उत्तरी-पश्चिमी भारत पर, जहाँ हिंदी-साहित्य का निर्माण हो रहा था, बराबर मुसलमानों के आक्रमण होते थे। अतएव ऐसी परि-स्थिति में निश्चिततापूर्वक साहित्य का सर्जन किस मात्रा में हुआ होगा, ठीक-ठीक कहना या पता लगाना संभव नहीं। उस समय राजपूताना में ही ऐसी बची-बचायी सामग्री होने का भी अनुमान लगाया जाता है।

उस युग के कहे जानेवाले अब तक जो ग्रंथ प्राप्त हुए हैं उनमें बहुत अधिक प्रक्षिप्त तथा अनैतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है। इसलिये उसकी प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं किया जा सकता। प्राप्त रचनाओं में सैकड़ों वर्ष तक चारण-परपरा के कवि बराबर प्रक्षिप्त अंश जोड़ते रहे। इसलिये एक ही रचना के विविध अंशों में हिंदी में विविध प्रकार की भाषा का दर्शन होता है। अभी तक तत्कालीन साहित्य की छानबीन कर कुछ लोगों ने उस युग की रचनाओं का प्रामाणिक रूप रखने का यत्न किया है पर वह सर्वथा प्रामाणिक नहीं है।

राजनीतिक दृष्टि से यह युग भयंकर विक्षोभ और अशांति का था। देश में एकता की शृंखला हर्ष के बाद ही विच्छिन्न हो चुकी थी। देश की वीरता स्वयंवर-शौर्य तक ही सीमित रह गई। आपस की तू तू मैं-मैं में ही नाहक लड़ाइयाँ छिड़ जाती थीं। चौहान, सोलंकी, परमाल, चंदेल, गाहड़वाल घर में ही अपना शौर्य-प्रदर्शन करते थे। भारतीय संस्कृति के ठेकेदार साधु-संत भोग को ही जीवन की चरम सिद्धि समझते थे। पर जनता को मौन होकर सब कुछ सहना पड़ता था। दक्षिण ऐसी विषम परिस्थिति से उतना आक्रांत नहीं था। उत्तर पर बार-बार मुसलमानों के आक्रमण होते थे। यहाँ पर आंतरिक कलह का भी बोलबाला था। ऐसी स्थिति में स्वच्छंद रूप से काम की उपासना करनेवालों के लिये किसी सुअवसर की संभावना नहीं थी। जो स्वच्छंद रचनाएँ हुई भी होंगी, वे न तो उस अशांत वातावरण में व्यापकता पा सकीं और न सुरक्षित ही रखी जा सकीं। कलाकार को विवश होकर जीवन-यापन हेतु राजाश्रित होना पड़ा। लोक-जीवन से दूर राजमहलों के अशांत किंतु वैभवपूर्ण वातावरण में उन्हें दाताओं का प्रशस्ति में अपने को बेचकर काव्य लिख जीवन-यापन करना पड़ा।

युग की रचनाएँ

उस युग की रचनाएँ, जो आज प्राप्य हैं, अपने मूल रूप में नहीं हैं। एक ही रचना में कई कवियों का हाथ लग जाने के कारण जो रचनाएँ उपलब्ध भी हैं उनमें वह साहित्यिक गठन एवं सुडौलपन नहीं है जो एक रचनाकार के हाथ की कृति में सम्भव रहता है। उस युग के साहित्य का निर्माण करनेवालों का हृदय उन राजाओं के प्रति श्रद्धा-निमग्न न होने के कारण अभिव्यक्ति में प्रायः सच्चे हृदय की अनुभूतियों का अभाव दिखाई पड़ता है। उन कवियों का आदर्श किसी भी प्रकार आश्रयदाता की गौरव-गाथा गाना मात्र था। साथ ही प्राप्त रचनाओं में प्रक्षिप्त अंश कई सौ वर्ष बाद तक मिलाये जाते रहे हैं। अतएव उसमें असत्य, भ्रामक और संदिग्ध तथ्यों का मिश्रण होता गया है।

इस युग की हिंदी की काव्य-धारा अत्यंत वैयक्तिक एवं संकुचित हो बहती रही। कवियों का न तो कोई बड़ा आदर्श था, और न किसी सामाजिक प्रतिष्ठा का ध्येय। यत्र-तत्र इन रचनाओं में राष्ट्रीय भाव दीख पड़ते हैं। वे महत्त्व रखते हैं। पर मानव के भीतर, जाति-जाति के भीतर, एक देश के भीतर ही ऊँच-नीच की द्वेषभरी भावना फैलाने का विषाक्त कार्य भी उन्होंने किया है। कहीं-कहीं काव्य में सुन्दर उक्तियां, हृदयमोहिनी उद्भावनाएँ, अच्छी कवित्व-शक्ति तथा सुन्दर चरित्र-चित्रण इस युग के काव्य में दिखाई पड़ता है। पर उनकी मात्रा सीमित है। युद्ध के वर्णन में उन्हें सर्वाधिक सफलता मिली है। उनके काव्य में कहीं-कहीं अद्भुत शब्द-शक्ति का दर्शन भी होता है। युद्ध-संबंधी वर्णन में व्यापक रूप से शब्द ध्वनिमय हो वस्तुस्थिति का निरूपण करते हैं। काव्य के ढाँचे की परंपरा विरासत के रूप में अपभ्रंश से ली गई है। इस युग का अधिकांश साहित्य राजपूताना में निर्मित हुआ जो लोक-परंपरा या राज्य-संरक्षण की परंपरा से प्राप्त है। इस युग में काव्य का विषय प्रायः किसी नृपति के शौर्य की प्रशस्ति ही रहा है। किसी रमणी के सौंदर्य पर मुग्ध होकर कोई राजा उस देश पर चढ़ाई कर देता है और युद्ध में महान् योद्धा की भाँति लड़ते हुए अपने वांछित उद्देश्य की प्राप्ति करता है। युद्ध के वर्णन में इन कवियों के सफलता प्राप्त करने का मूल कारण यह भी है कि समर छिड़ जाने पर राजाओं के साथ युद्धस्थल पर कवि भी जाता था। अपनी आँखों से वह युद्ध होते देखता था और कभी-कभी तो अनेक कवि योद्धा की तरह हाथ में तलवार लेकर अपने आश्रयदाता के लिए युद्धभूमि में संघर्ष भी करते थे।

इस युग में प्रबंध-काव्य और मुक्तक-काव्य दोनों लिखे गए। इन्हें 'रासो' के नाम से पुकारते हैं। इस रासो शब्द का संबंध कुछ लोग रहस्य से लगाते हैं और आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी इसे रसायण शब्द का परिवर्तित रूप समझते हैं, क्योंकि 'बीसलदेव' रासो में अनेक स्थलों पर काव्य के अर्थ में बार-बार रसायण शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्रबंध काव्य

खुमान रासो : वीर-काव्य की परंपरा में कहे जानेवाले प्रबंध-काव्यों में दलपति विजय या दौलत विजय द्वारा रचित यह प्राचीनतम ग्रंथ है। यह खुमान रासो चित्तौड़ के राजा खुमान द्वितीय की (संवत् ८७० से ९००) प्रशस्ति में लिखा गया है। खुमान रासो की अभी तक जो प्रति प्राप्त की जा सकी है वह अपूर्ण है और उसमें महाराणा प्रताप तथा राजसिंह तक का वर्णन है, जिससे यह स्पष्ट है कि यह ग्रंथ अधिक प्राचीन नहीं है।

मोतीलाल मेनारिया इन्हें 'शान्ति विजय' नामक जैन साधु का शिष्य तथा इसका रचनाकाल संवत् १७३० से लेकर १७६० के मध्य तक मानते हैं।

भुआल ने दोहा, चौपाई में भगवद्गीता का अनुवाद किया है तथा इनका समय एक दोहे के आधार पर संवत् १००० बताया जाता है, लेकिन वास्तविक तथ्यों का अध्ययन करने पर यह सत्रहवीं शताब्दी के बाद की ही उनकी रचना मालूम पड़ती है। 'पृथ्वीराज-विजय' नाम का शारदा लिपि में लिखा एक ऐतिहासिक ग्रंथ, जिसमें पृथ्वीराज चौहान का विजय-वर्णन है, अपने फटे रूप में डॉ० गोलर को कश्मीर में प्राप्त हुआ था। अनुमान के आधार पर जयानक नामक कवि इसके लेखक माने जाते हैं। इसकी कविता सुंदर है तथा इस ग्रंथ में ऐतिहासिक सामग्री है। संवत् १३५७ में सारंगधर नामक कवि ने 'हमीर-रासो' की रचना की। इस ग्रथ में हमीर और अलाउद्दीन के युद्ध का ओजस्वी वर्णन है। इस ग्रंथ की कोई भी प्रामाणिक प्रति प्राप्त नहीं है। संवत् १४६० के आस-पास ग्वालियर के तोमरवंशीय राजा वीरमदेव के आश्रय में पालित कवि नयनचंद्र सूरि ने हमीर महाकाव्य की रचना की। नलसिंह भट्ट रचित 'विजयपाल रासो' रासो की परंपरा में प्राप्त एक ग्रंथ है, जिसमें करौली विजयपाल के युद्ध का वर्णन है। अन्य रासो भी अवश्य लिखे गए होंगे, जिनके संबंध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि अब तक या तो वे चारणों के घर पर पड़े होंगे या नष्ट हो गए होंगे।

पृथ्वीराज रासो : यह एक विशालकाय ग्रंथ है। इसे कुछ लोग हिंदी का प्रथम महाकाव्य मानते हैं। यह २½ हजार पृष्ठों का ६६ समय (सर्ग) में कवित्त (छप्पय), दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या छंदों में लिखा हुआ ग्रंथ है। दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट् पृथ्वीराज के राज-कवि चंद बरदाई की यह रचना है। इसके अंतिम अंश को उसके पुत्र जल्हण द्वारा पूरा किये जाने की बात कही जाती है।

इसमें जो कथावस्तु दी गई है वह आबू के यज्ञकुंड से चार क्षत्रिय-कुलों की उत्पत्ति से लेकर दिल्ली के अंतिम सम्राट् पृथ्वीराज के क़ैद होने तक है। संयुक्ता और पृथ्वीराज की सुप्रसिद्ध कथा भी इसमें वर्णित है। इस ग्रंथ में चंगेज, तैमूर आदि के आक्रमणों का भी वर्णन है। इस ग्रंथ में वर्णित तिथियों के कारण, जो शिलालेख आदि से अप्रामाणिक और अनैतिहासिक ठहरती हैं, लोग ग्रंथ को जाली मानते हैं।

कुछ लोग चंद का जन्मस्थान मगध और कुछ लोग 'रासो' के अनुसार लाहौर मानते हैं। चंद पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के दरबारी तथा पृथ्वीराज के सखा और राजमंत्री थे। नागौर में पृथ्वीराज के द्वारा चंद को जमीन दी गई थी और अब भी उनके वंशज वहां रहते हैं।

इस ग्रंथ का संकलन संपादन अमरसिंह के राज्यकाल (संवत् १६५३ और १६७६) में हुआ माना जाता है। प्राप्त वर्तमान रासो अपने पूर्व रूप में नहीं है और उसमें बहुत अधिक प्रक्षिप्त अंश बाद का जोड़ा हुआ है।

'पृथ्वीराज रासो' में प्राचीन काव्य-परिपाटी पर शुक-शुकी के संवाद के रूप में कथा कही गई है। पृथ्वीराज की वंश-परंपरा और उनके जीवन के संबंध में संपूर्ण घटनाओं का—विशेषकर संयुक्ता-हरण, शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण और युद्ध का—वर्णन अत्यंत सुंदर बन पड़ा है। साहित्यिक दृष्टि से इसकी गणना हिंदी के अच्छे काव्यों में की जाती है। स्थान-स्थान पर इसमें छंद परिवर्तित होते हैं, पर काव्य की रसात्मकता सर्वत्र बनी रहती है।

भट्ट केदार और मधुकर कवि कन्नौज और काशी के शासक जयचंद के दरबार की शोभा थे। इनका रचनाकाल आचार्य शुक्ल ने संवत्

१२२४ से १२४३ तक माना है। भट्ट केदार ने 'जयचंद-प्रकाश', मधुकर ने 'जय मयंक जयचंद्रिका', सारंगधर ने 'हमीर काव्य' और नल्लसिंह ने 'विजयपाल रासो' की रचना की। यदि राजपूताना में खोज की जाय तो निश्चित रूप से ऐसे अनेक ग्रंथ और मिलेंगे।

मुक्तक

इस युग में प्रबंध काव्यों से अधिक गीत काव्यों की रचना हुई। वातावरण भी गीत-काव्य के लिए अधिक उपयुक्त था। चारण प्रायः राजदरबारों में जाते और नित्य नूतन छंदों द्वारा सामंतों एवं आश्रयकों का मनोरंजन एवं प्रशस्ति करते। उस काल के जो गीत अब प्राप्त हैं उनमें मौखिक संरक्षण के कारण रूपान्तर तो मिलता ही है, साथ ही उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। अभी तो बहुत कुछ बिखरे हुए होंगे जिनका पूरा पता हिंदी-जगत् को नहीं है और कुछ नष्टप्राय भी हो गए होंगे। अतएव इस काल के प्रबंधों के विषय में जो बातें कही गई हैं वही गीतों पर भी ठीक बैठती हैं। पर साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से ये गीत अधिक सुंदर हैं। इन गीतों में ओज है तथा है स्वच्छंद प्रवाह। ये गीत रोचक भी हैं। ये गीत जन-जीवन में प्रसारित भी हुए और आज तक लोगों में गाए जाते हैं। आल्हा इसका प्रमाण है। ये गीत जितने व्यापक हुए उतने उस युग के प्रबंध-काव्य नहीं।

बीसलदेव रासो : नरपति नाल्ह द्वारा यह लघु-काव्य वीर-गीतों की शैली पर रचित सं० १२७२ की रचना है।

ग्रंथ प्रेम-प्रधान है तो भी विद्वान् इसे वीर-गीतों के रूप में ही मानते हैं। इसमें काव्यतत्त्व अधिक हैं पर इसे भी प्रामाणिक ग्रंथ नहीं माना जा सकता।

आल्हा खंड : इस युग का सर्वाधिक लोकप्रिय जन-साहित्य आल्हा-खंड है। ऐसा कहा जाता है कि कालिंजर के अधिपति परमाल के यहाँ जगनिक नाम का कोई भाट रहता था जिसने महोबा के दो प्रसिद्ध वीरों--आल्हा और ऊदल (उदयसिंह) की प्रशस्ति में आल्हा खंड की रचना

की। कुछ लोग इसे 'पृथ्वीराज रासो' और कुछ लोग 'परमाल रासो' का एक खंड बताते हैं। आज भी परिवर्तित रूप में यह ग्रंथ बराबर लोक में प्रचलित है। परन्तु इसकी पुरानी प्रति कहीं से भी प्राप्त नहीं होती। यह ग्रंथ कितना प्राचीन है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसकी भाषा और कलेवर दोनों बराबर परिवर्तित होते रहे हैं। आज जिस रूप में यह प्राप्त है उसमें भाषा का रूप बहुत पुराना नहीं लगता। सर्वप्रथम लगभग ८० या ८४ वर्ष पूर्व फर्रुखाबाद के कलक्टर श्री चार्ल्स इलियट ने इन गीतों को प्रकाशित कराया था।

इन वीर गीतों का निर्माण साहित्यिक प्रबन्ध-पद्धति पर नहीं, लोक-गीतों की पद्धति पर हुआ है। इसमें आल्हा, उदल और उसी परिवार के लोगों की वीरता की अतिरंजित कहानी है। कहीं-कहीं यह इतिहास-विरुद्ध है और भौगोलिक ज्ञान का अभाव प्रदर्शित करता है। तो भी आज उत्तरी भारत के देहातों में ढोल पर आल्हा-खंड स्वरबद्ध लोगों के मुख से सुनाई पड़ता है। बैसवाड़ा इसका मुख्य केन्द्र है। इन रचनाओं में वीर रस उमड़-घुमड़ कर छलकता है।

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि चौदहवीं शताब्दी के बाद डिंगल का स्रोत सूखने लगा था पर इसमें रचनाएँ बराबर होती रहीं। शृंगारकाल में भी वीरपूजा के गीत चारण कवि स्फुट रूप से गाते रहे।

'जैतश्री रान काबू जीरा छंद' नामक ग्रंथ बीकानेर के राव जैतसी की प्रशंसा में सं० १५५१ में लिखा गया था। कवि का नाम अज्ञात है किंतु मारवाड़ी मिश्रित देवनागरी और महाजनी लिपि में लिखित यह रचना आज भी बीकानेर के दरबार पुस्तकालय में है, जिसमें कामरान को, जो बाबर का पुत्र था और जिसने बीकानेर पर चढ़ाई की थी, राव जैतसी द्वारा मार खदेड़ने का वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ ऐतिहासिक महत्त्व का है। सं० १६१५ में शिवदास ने गागुरण के खीची शासक अचलदास की प्रशस्ति में लिखा था।

गणपति माधवानल और कामकंदला वाली प्रसिद्ध प्रेमकथा की रचना सं० १५८५ में नर्मदा के किनारे आप्रपद नामक स्थान पर की

थी। १६१६ में कुशललाभ ने भी माधवानल और कामकंदला की रचना की।

इस युग की डिंगल की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है—कृषन रुकमणी री वेल राज पृथ्वीराज की कही। यह ग्रंथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा इसमें भक्ति के साथ श्रृंगार आकर्षक ढंग से उपस्थित है। रीति और भक्ति का सुंदर समन्वय इस ग्रंथ में हुआ है। यह ग्रंथ डिंगल के वलिओ गीत छंद में लिखा गया है। इस ग्रंथ में तीन सौ पाँच पद्य हैं, जिसमें शैशव अवस्था से लेकर रुक्मिणी का पूरा जीवनवृत्त षड्ऋतु वर्णन आदि के साथ है। रचना में सर्वत्र स्वाभाविकता के साथ सहज सुंदर प्रवाह तो है ही, संगीत की मधुरता भी है। काव्यकला की दृष्टि से यह ग्रंथ डिंगल साहित्य में प्रथम कोटि का है। इस ग्रंथ के लेखक पृथ्वीराज थे जो अकबर के दरबार में अत्यन्त सम्मानित सैनिक पद पर थे। उन्होंने रणक्षेत्र में अकबर द्वारा भेजे जाने पर काबुल के मिर्जा हकीम के छक्के छुड़ा दिए थे। कविता के क्षेत्र में उन्होंने कृष्ण और रुक्मिणी की प्रेम-कथा के द्वारा श्रृंगार की रसमयी धारा बहा दी, जिसके कारण कुछ लोग इसे राजस्थान का पाँचवाँ वेद बताने लगे। इस ग्रंथ का रचना-काल सं० १६३७ है। भागवत पुराण इसका आधार है। कवि का जन्म संवत् १६०६ में हुआ था।

वचनिका राठौर रतनसिंह जी की महेश दासोत की खिड़ियै जगैरी कही—संवत् १७१५ के बाद इस रचना का निर्माण हुआ। खिड़िये जगै इसके लेखक हैं। मुराद और औरंगज़ेब के विद्रोह करने पर उज्जैन में सं० १७१५ में युद्ध में आहुति देनेवाले रतनसिंह की प्रशस्ति में इस रचना का निर्माण कवि द्वारा हुआ।

सोढ़ी नाथीरी कविता—यह नाथी नाम की महिला द्वारा रचित है। निम्नलिखित वैष्णव धर्म से प्रभावित भक्तिभावनापूर्ण ग्रंथों का निर्माण भी नाथी द्वारा हुआ—(१) भगत भाव रा चंद्रायण, (२) गूढ़ा रथ, (३) साख्या, (४) हरि लीला, (५) जीव लीला, (६) बाल-चरित और (७) कंस लीला।

ढोला मारवाड़ी चौपदी (अज्ञात) वर्षलपुर गढ़ विजय : महाराजा

भी सुजान सिंह जी रासौ, ग्रंथ गाडण गोपीनाथ रव कहियौ (रचना-काल संवत् १८०३ से १८१०) ग्रंथों के लेखक आचार्य गोपीनाथ हैं, ये रचनाएँ डिंगल में बाद में लिखी गई।

भाषा-शैली : इन ग्रंथों की भाषा [illegible] स्थान की साहित्यिक भाषा है। इसे डिंगल के नाम से पुकारते हैं। अपभ्रंश से यह उत्पन्न हुई और वीर और शौर्य वर्णन के विशेष रूप से उपयुक्त है। इस भाषा में बराबर ग्रंथ-रचना होती रही और उसमें संस्कृत और अरबी तथा फारसी के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी भाषा में समय-समय पर होता रहा। छंद पद्धति भी इन कवियों ने अलग अपनायी है। दोहा, पद्धरि, कवित्त आदि का व्यापक रूप से इन्होंने प्रयोग किया है : ये छंद भाव की अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध हुए हैं।

धीरे-धीरे राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने लगा। राज-स्थान ने मुसलमान शासकों की प्रभुता स्वीकार कर ली। भारत की वीरता विलासिता के अंक में खो गई, तलवार की जगह नारी के कटाक्ष हिंदू शासकों के खेलने के साधन बने, मुसलमानों में कट्टरता बढ़ती गई, उनके भय से जनता आक्रांत हो गई। परिणाम यह हुआ कि जनजीवन में भी शौर्य की मात्रा दिनोत्तर क्षीण होने लगी। बाद में शांत और शृंगार रस सम्बन्धी रचनाएँ हुई। उसके लिए डिंगल उपयुक्त नहीं थी। वह तो तलवारों की खनखनाहट की ध्वनि का उद्बोध करानेवाली, रणचण्डी की जिह्वा की भाँति लपलपाती रण में हुंकार मचानेवाली भाषा थी। उसमें भक्ति, शांति और लौकिक शृंगार के गुंफन की क्षमता कहाँ ? अतएव हिंदी काव्यधारा में यह भाषा धीरे-धीरे क्षीण होने लगी और आज उसका प्रयोग प्रायः उड़-सा गया है।

मध्यकाल [पूर्व]

[चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी]

साधना-साहित्य

मुहम्मद गोरी के उपरांत उत्तरी भारत का शासन मुसलमानों के हाथ आ चुका था। मुसलमानों के शासन का नियन्ता सुलतान होता था, जिसकी शासन-पद्धति-इस्लाम के सिद्धांतों तथा उसके मनोभावों पर आधारित होती थी। यद्यपि गुलाम, खिलजी एवं तुगलक वंशों में अनेक प्रजाहितैषी एवं प्रतापी बादशाह हुए तो भी समस्त हिंदीभाषी क्षेत्र पर उनका एकछत्र आधिपत्य स्थापित न हो सका और न स्थायी रूप से सामाजिक एवं सांस्कृतिक शांति ही अधिक समय तक विराज सकी। इन वंशों में अधिकांश शासक निकम्मे, अयोग्य एवं कठपुतलियों के समान थे। आए दिन शासक एवं उसकी नीति का परिवर्तन होता रहता था, जिसका विषम और भयंकर परिणाम जनता को भोगना पड़ता था।

आवागमन के साधन द्रुत न होने के कारण सर्वत्र सामंतों का आतंक व्याप्त था। सुदूर देशों में नाना प्रकार के अत्याचार जनता पर सामंतों द्वारा किए जाते थे और जनता को सब कुछ सहना पड़ता था। आकर्षण का मुख्य केन्द्र सुलतान होता था। उसके सामंतों का आदर्श भी वही होता था। वे भी उसकी नक़ल करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते थे। अधिकांश सुलतान विलासी हुए। प्रजा का हितचिंतन उनका उद्देश्य रहा ही नहीं। सामंतों का भी वही आदर्श बना। सामंतों एवं छोटे-मोटे कर्मचारियों से लेकर सुलतान तक के विलास का बोझ उस जर्जर जनता पर पड़ता था जिसका कल्याण मौन रहने में ही था। हिंदुओं के जो राज्य दक्षिण और राजपूताना में शेष बच रहे थे, उनमें से अधिकांश अपना अतीत भूल चुके थे और मान-

सिक तथा राजनीतिक पराभव स्वीकार कर चुके थे। विलासिता उनके जीवन का शृंगार बन चुकी थी। जनता का अजस्र शोषण अधिकांश हिंदू शासक भी कर रहे थे। वे झूठ, दर्प और लिप्सा की भावना से आपस में ही लड़ रहे थे। इस नारकीय संघर्ष में जन-जीवन भुना जा रहा था। वे अपना कल्याण इस बात में समझते थे कि दिल्ली के शासक को कर देकर विलास की वंशी चैन से बजाई जाय। यद्यपि मुगल शासन की स्थापना हो जाने पर स्थायी शासन नीति एवं शांति का अनुभव जन-जीवन में होने लगा तो भी जनता का शोषण बंद न हुआ।

भारत के नये शासकों का धर्म, जिसके आधार पर राजनीति का प्रवर्तन होता था, अपने प्रसार में विश्वास रखने वाला था। सत्ताधारी किसी भी बल पर अपने कर्तव्य का पालन करने पर तुले बैठे थे।

इधर जीवित हिंदू समाज की पाचन-शक्ति विलुप्त हो चुकी थी। जिस समाज ने शक, सिथियन और हूणों को पचाकर डकार तक नहीं ली, वही इतना क्षीण हो गया था कि पचाने की बात तो दूर रही, स्वरक्षा में भी असमर्थ रहा। प्रारंभ में इसके मूल में दक्षिण के सौराष्ट्र, वल्लभी, कालीकट के हिंदू शासकों की वह उदार व्यापारिक नीति थी जिसके कारण हिंदू स्त्रियों से विदेशियों को शादी तक की छूट दी गई। मल्लाहों के घर पर कम से कम एक बच्चे को इस्लामी शिक्षा अनिवार्य की गई और शासकों की ओर से मस्जिदें बनाई गईं। इसका परिणाम यह हुआ कि जाति-की-जाति मुसलमान बन गई। हिंदू समाज की वह नीति, जिसके बल पर वर्णों का भेद कर्मगत न रहकर जन्मगत माना जाने लगा, इसके लिये कम उत्तरदायी नहीं है। जातियों में उपजातियाँ बनने लगीं। एक जाति दूसरी जाति की पूरक न बनकर प्रतिस्पर्द्धी बन बैठी। एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से महान् बनने का ढोंग रचने लगे। एक ही जाति में अनेक उपजातियाँ बन बैठीं। एक उपजाति दूसरी से अपने को महान् समझने लगी और खान-पान, विवाह एव अन्य सामाजिक कार्यों में भी यह आत्म-कलह परिव्याप्त होने लगा। यह दुराव भावना इसी बात से प्रकट होती है कि तब तक निम्न समझी जानेवाली जाति में ही लगभग १२०० उपजातियाँ बन चुकी थीं। जातियों का वह बंधन

जो एक बार हिन्दू-समाज के लिए ढाल बना था, वही हिन्दू-समाज के पतन के लिए द्वार खोल बैठा।

इस विषम परिस्थिति से इस्लाम-परस्त फकीरों ने लाभ उठाया। संकीर्ण जातिप्रथा के कारण हीन समझे जानेवाले एवं बहिष्कृत तथा पदमर्दित लोग काफी संख्या में उनके प्रभाव से मुसलमान बने। जब हीन जाति के हिन्दू मुसलमान बन जाते थे तब उनका सामाजिक महत्त्व उच्च वर्ण और जाति के हिन्दू भी स्वीकार कर लेते थे। सामाजिक प्रतिष्ठा की यह अभिवृद्धि भी इस्लाम के लिये कम उपादेय प्रमाणित नहीं हुई।

इन फकीरों के साथ ही अनेक मुसलमान शासकों ने इस्लाम के प्रसार के लिए तलवार और राजसत्ता का भी सहारा लिया। हिन्दुओं पर नाना प्रकार के कर—यथा जजिया आदि लगाये गये।

जो नये मुसलमान होते थे वे पुराने मुसलमानों से भी कुछ माने में कट्टर होते थे। एक तो यह कि उन्हें अपनी नई बिरादरी को यह दिखाने का हौसला रहता था कि वे किसी भी माने में अपने पुराने भाइयों से कम इस्लाम-परस्त नहीं, दूसरे उनके मन में हिन्दू-समाज के प्रति जो भयंकर विद्रोह भीतर ही भीतर युगों से सुलग रहा था उसके प्रति उनके मन में घृणा की भावना प्रतिहिंसा बन जल पड़ती थी क्योंकि इस समाज ने उनके प्रति जो हीनता और घृणा का भाव प्रदर्शित किया था वह उनके लिए विष के घूंट से भी भयंकर प्रमाणित हुआ था।

इस्लाम के प्रचार-प्रसार में उसकी सामाजिकता तथा एकेश्वरवादिता ने भी पर्याप्त सहायता पहुँचाई। उनके यहाँ छोटा-बड़ा, गरीब-धनी, सबका ईश्वर अल्ला होता था जो सबके लिए एक होता था। इस भावना के कारण हिन्दू-समाज का वह वर्ग जो अत्यन्त निम्न समझा जाता था, जिसका मुख देखना भी पाप था, इस धर्म से अत्यन्त प्रभावित हुआ। दूसरी बात यह भी थी कि सामूहिक भावना से अनुप्राणित होने के कारण हिन्दुओं की व्यक्तिनिष्ठ धार्मिक भावना इस्लाम के प्रसार को न रोक सकी, क्योंकि जो लगन और उत्साह अपने धर्म के प्रसार के निमित्त मुसलमानों में था उसका एक अंश भी हिन्दुओं के भीतर अवशिष्ट न बचा था।

ऐसी विपन्न परिस्थिति में हिन्दू-समाज के कर्णधारों में उन लोगों की संख्या अधिक थी जो अपने स्वार्थ के कारण समाज को ले डूबने में सहायता पहुँचा रहे थे। उस समाज में कुछ ऐसे रूढ़िवादी पंडित थे जिन्होंने उसी प्रकार का एक नया स्वांग रचा जो सोमनाथ के मंदिर के रक्षार्थ रचा गया था। उनके अंधभक्तों की कमी भी समाज में नहीं थी। वे मुसलमानों को स्पर्श कर आयी वायु से भी घृणा कर रहे थे और अपने शिष्यों आदि को वही शिक्षा भी दे रहे थे, पर जो हिन्दू धर्म-परिवर्तन कर रहे थे उनके बचाने का कोई भी उपाय उनके द्वारा नहीं किया गया। दूसरे, समाज में ऐसे आस्था प्राप्त साधु, संन्यासियों एवं योगियों की बाढ़ थी जो समाज को धोखा देकर सरल निराश्रित जनता को अंधकूप में ढकेलने का कार्य कर रहे थे। इनमें प्रमुख रूप से कनफटवे साधु, भ्रष्ट बौद्ध महात्मा आदि थे। इन्होंने नाहक संत होने का स्वांग रच लिया था और समाज में जादू-टोना का सिक्का तो जमा ही रहे थे, व्यभिचार का प्रसार भी धर्म के नाम पर कर रहे थे। उद्धारक ही भक्षक बन बैठे थे।

इन सब विपन्न परिस्थितियों के होते हुए भी हिन्दू-जाति के पास हज़ारों वर्षों की जीवन्त परम्परा थी। यद्यपि उसकी पाचन-शक्ति समाप्त हो चुकी थी तो भी वह मृत नहीं थी। अभी तक इस्लाम के प्रसारकों को विश्व के अन्य देशों में इतने बड़े अलंघ्य धर्म को मर्दित करने का अवसर नहीं मिला था। उनका इस्लाम शुष्क रेगिस्तानी वातावरण में पल्लवित हुआ, फूला और फला था। उसमें भारत की रससिक्त धरती को सोख जाने की सामर्थ्य कहाँ ? सांस्कृतिक दृष्टि से इतना बड़ा संघर्ष विश्व के इतिहास में कभी हुआ ही नहीं।

दो विरोधी संस्कृतियों का भारतवर्ष में यह युद्धात्मक संयोग एक चेतनासम्पन्न वातावरण के सर्जन में सफल हुआ। दोनों ने एक-दूसरे की शक्ति पहचानी। विजेता जीतकर भी विजयी न बन सके। विजित युद्ध-भूमि में गिरकर भी नई प्रेरणा से अनुप्राणित हो जाग उठे। एक-दूसरे के गुणों की पहचान दोनों ने की। इस सांस्कृतिक, सामाजिक परिस्थिति का वर्णन करते हुए सर जान मार्शल ने लिखा है कि 'मानव जाति के इतिहास में ऐसा दृश्य कभी नहीं दिखाई पड़ा जब इतनी महान्, इतनी

सुविकसित और इतनी मौलिक सभ्यताओं का सम्मिलन और सम्मिश्रण हुआ हो।'

वास्तव में जो महान् आंतरिक सम्मिश्रण, सामीप्य एवं समन्वय की मंगल भावना इस युग में इन दो विरोधी संस्कृतियों में दिखाई पड़ी वह अत्यन्त लोक-कल्याणकारी हुई। इस समन्वयवादी दृष्टिकोण का औद्योगिक, वैज्ञानिक, धार्मिक, वस्तु-चित्र और संगीतकला, राजनीतिक सामान्य जीवन तथा साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा।

मुसलमानों से भारतवर्ष ने नई सामरिक कला सीखी। मुग़लों ने तुर्कों, ईरानियों से यूरोपीय रण-कला सीखी थी। भारत ने न केवल तोपों, बंदूकों एवं बारूद का प्रयोग इनसे सीखा, अपितु नई सैनिक व्यवस्था एवं किलाबंदी की शिक्षा भी इनसे ग्रहण की। प्रायः अधिकांश सामान्य जनता को उस युग में सेना में ही नौकरी मिलती थी, जिससे इस क्षेत्र में जीवन-यापन करनेवालों को एक नए ढंग के जीवन का अभ्यासी बनना पड़ा। कागज बनाने की कला भी भारतवर्ष में मुसलमानों द्वारा ही आयी, जो शिक्षा एवं साहित्य के प्रसार में सहायक प्रमाणित हुई। बाग़बानी के क्षेत्र में भी एक नवीन उद्यान-कला का दर्शन देश को हुआ, जो सौंदर्य की अभिव्यक्ति कर एक नए स्वरूप में भारतीयों को सौंदर्य-बोध कराने में सहायक प्रमाणित हुई। ईरान और तुर्किस्तान में यह कला विकसित हुई थी और भारत में इनकी इस देन को कलाविद् हैवल ने कला के क्षेत्र में मुगलों की सबसे बड़ी देन बताया है। कृत्रिम प्रपातों, फव्वारों एवं नहरों तथा उसके चतुर्दिक् घिरे पुष्प-उद्यानों ने मानव-मन को एक नए सौंदर्य का बोध कराया।

समस्त उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत का कुछ अंश एक राजनीतिक सूत्र में आबद्ध हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे शांतिमूलक राजनीतिक एकता के कारण सामाजिक जीवन पर भी लोगों का प्रभाव पड़ना आरंभ हुआ। वेशभूषा, रहन-सहन, खान-पान तथा सामाजिक प्रथा पर भी इस समन्वय का प्रभाव पड़ा। हिंदुओं के यहाँ सेहरा और जामा का प्रयोग आरंभ हुआ। जो नए मुसलमान हुए थे उनके यहाँ अनेक हिंदू प्रथाएँ चल रही थीं। मोदक (लड्डू) और अपूप

(मालपूआ) के स्थान पर बालूशाही, शकरपारा, बरफी, हलवा आदि का प्रयोग भी हिंदू घरों में आरंभ हुआ।

समन्वय का यह दृश्य केवल सामाजिक जीवन में ही नहीं व्याप्त हुआ बल्कि मानस के भीतर भी प्रविष्ट हुआ। आवेश की पहली लहर में मुसलमानों ने मंदिर तोड़े किंतु बाद में जब उनका शासन स्थापित हो गया तो उनकी युद्धकालीन मनोभावना में स्पष्ट परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा। अलाउद्दीन खिलजी आदि ने जो मस्जिदें बनवाईं उनमें भारतीय स्थापत्य कला का स्पष्ट व्यापक रूप से आभास मिला, किंतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों फारस की कला को इस देश में व्यापक रूप से स्थापित करने का प्रयत्न भी किया गया। १२८६ में बनी कुतुबमीनार पर भी भारतीय अलंकारों के दर्शन हुए। शेरशाह द्वारा बनवाए गए मकबरे में भी भारतीय भव्यता आज तक विराजती है। शेरशाह के समय तक यह पद्धति चली आती थी कि भवन अलंकार से भर दिए जाते थे। किंतु शेरशाह के मकबरे सौम्यता और सादगी के प्रतीक हैं। अकबर के बाद इस क्षेत्र में हिंदू और मुस्लिम शैली का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ तथा अलंकार के क्षेत्र में संतुलित दृष्टिकोण दिखाई पड़ा। जहाँगीर के समय भी अकबर द्वारा प्रवर्तित समन्वय उस समय की बनी इमारतों में दिखाई पड़ता है। अहमदाबाद, राजपूताना, जौनपुर सर्वत्र ही यह समन्वय स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है।

चित्रकला के क्षेत्र में उस युग की प्राप्त प्रथम पुस्तक 'बसंत विलास' (१५०८ सं०) में भी मानव का चित्र अलंकृत रूप से उपस्थित किया गया। चित्रों के क्षेत्र में भी व्यापक रूप से समन्वय का दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। इंडिया ऑफिस ब्रिटिश म्यूज़ियम आदि में रखे तत्कालीन चित्र इसके प्रमाण हैं।

संगीत के क्षेत्र में भी व्यापक उन्नति हुई। बैजू बावरा ध्रुपद प्रणाली के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका संस्कार भारतीय था। ध्रुपद के संस्कृत छंद अपने ढंग के अकेले गेय काव्य-पद हैं। कला के क्षेत्र में कलावंत इसे आज भी सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। न केवल इस युग में इन पक्के गानों के सौरभ से संगीत झंकृत हुआ अपितु लोकप्रिय भजनों का भी प्रचार

राग-रागिनियों में बाँधकर हुआ। कव्वाली आदि भी मस्ती के साथ गायी जाती थी। तानसेन भी इसी युग की देन हैं। इस प्रकार संगीत की दृष्टि से भी यह युग चरम उत्कर्ष पर था। यहाँ तक कि नक्कारा बजाने में अकबर अत्यन्त माहिर था। अकबर के समय में संगीत की बड़ी उन्नति हुई। उस समय के जितने भी कवि हुए उनमें प्रायः सभी ने गेय पदों की रचना की। साधु और संत भी अपनी वाणियाँ गा-गाकर सुनाया करते थे। इस दृष्टि से संगीत जन-जीवन में समा गया था। उस समय हाथ से लिखकर साहित्य या विचारों का प्रसार सम्भव न था। संगीत के कारण पदों का व्यापक प्रभाव जनता पर पड़ता था।

इस तरह सामाजिक और अन्य कलाओं के विकास की दृष्टि से मध्य युग में कला अत्यन्त उन्नति पर थी और इसीलिए इतिहासकार इसे स्वर्णयुग के नाम से पुकारते हैं। सभी क्षेत्रों में व्यापक समन्वय इस बात का प्रतीक है कि मानव ऐसी अभिव्यक्ति चाहता था जिसमें संतुलन हो। कुछ लोग इस संतुलन को पराभव का प्रतीक समझते हैं। किंतु साहित्य इस बात का साक्षी है कि उसने न केवल समन्वय किया अपितु राष्ट्र-निर्माण में अभूतपूर्व क्षमता के साथ जुटा थी।

हिंदी-साहित्य के वैभव की दृष्टि से जितनी महान विभूतियाँ इस युग में हुईं उतनी हिंदी-साहित्य के किसी भी युग में नहीं। साहित्य और दार्शनिक संत मानव-जीवन को उन्नत बनाने में दत्तचित्त-से भिड़े थे। सबका रास्ता तो अलग-अलग दिखाई पड़ता है पर लक्ष्य सबका एक ही था—मानव को उस विराट सत्ता का उद्बोध कराना जो नव-जीवन का नियामक है।

उस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि चारण कवियों की भाँति इस युग के प्रमुख साहित्यकार राजाश्रित नहीं थे। वे खुली वायु में साँस लेनेवाले स्वतंत्र चिंतक थे। उन्होंने जीवन देखा था, जगत् देखा था, वह जानता था कि किस प्रकार जीवन से संघर्ष कर नए मार्ग का निर्माण किया जाता है। किस प्रकार लोगों के भीतर व्यापक चेतना जाग्रत की जाती है। वह विचारों का द्रष्टा और मानव-भविष्य का

स्रष्टा था। जिस समाज में वह पला था उसको उन्नत बनाने का सुख-स्वप्न उसकी आँखों में था जिसको अलग से मूर्त रूप देने का व्यापक रूप से उसने प्रयत्न किया।

भारत न केवल गाँवों का समूह मात्र है अपितु सदैव से ही चिंतन और जीवन की दार्शनिक अभिव्यक्ति की परम्परा यहाँ रही है। अलौकिक सत्ता जो जीवन-दर्शन से आप्लावित है वह उसे कभी भूली नहीं। यह उस मिट्टी-पानी का असर है जहाँ के महर्षियों ने सभ्यता के प्रथम विकास में ही विचारों का साक्षात्कार किया। दार्शनिकों के इस देश ने भी समय-समय पर केवल एक ही विचारधारा को अपने भाग्य का नियन्ता न बनाकर युग और परिस्थितियों के अनुरूप विचारों में निरन्तर परिवर्तन एवं संशोधन करने का क्रम जारी रखा। दार्शनिक चिंतन की इस धारा में नवीन चेतना अँगड़ाई लेती रही। बौद्ध और जैन धर्म जब जनता से दूर हट गए, उनके मुकुर पर जब धुंध छा गया तथा जनता अपना चित्र उसमें न देख पाई तब शंकराचार्य ने भारत को नए दार्शनिक किन्तु चिर-पुरातन विचार से अभिभूत किया। उनका मार्ग 'शांकर अद्वैत' के नाम से जाना जाता है। 'सत्य ब्रह्म जगत् मिथ्या' वाला सिद्धान्त युग के अनुरूप न रहा। उसमें परिवर्तन की अपेक्षा का अनुभव भारत के सभी कोनों में किया जाने लगा। नए रूप में नई चेतना देश के कोने-कोने में जागी। भगवान जन-जीवन में पुनः अवतरित हुआ। कुछ लोग उस परम्परा को आगे बढ़ाते रहे जो सिद्धों और सन्तों द्वारा प्रवर्तित की गई, किंतु नए रूप में, नए रंग में। कबीर संत-परम्परा के हिंदी काव्य में आदि संदेशवाहक हुए। रामानुजाचार्य ने मूर्त भगवान की कल्पना की। उन्होंने अवतारवाद के तत्वों का जन-जीवन में पुनः प्रवेश कराया। राम और कृष्ण लोकनायक भगवान के रूप में प्रतिष्ठित किए गए जो न केवल करुणासागर थे अपितु अपने भक्तों के त्राता और विधाता भी थे। वल्लभाचार्य और चैतन्य प्रभु ने लोक में प्रेमपूर्ण नया जीवन फूंका। जीवन में उन्होंने कृष्ण की प्रतिष्ठा की। रामानंद ने लोक में राम की प्राण-प्रतिष्ठा की।

साधु-संत तो इस कार्य में दत्तचित्त-से लगे ही थे। सूफी फकीर भी मानव को भगवान का ही रूप बताकर जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न कर रहे थे। इस क्षेत्र में हिंदू और मुसलमान सभी व्यापक रूप से आए। साधु-संतों की धारा विभिन्न रूपों में फूली। साहित्य पर भी उसका उसी रूप में प्रभाव पड़ा। उस युग के काव्य का जीवन-दर्शन दार्शनिक विचारों से अत्यन्त प्रभावित हुआ। राजनैतिक चेतना का स्फुरण सामन्तवादी युग में अँगड़ाई ले ही नहीं सकता था। जीवन की महत्ता उन दार्शनिक विचारों में प्रतिष्ठित दीख पड़ती है, जिनमें आशा और नवजीवन का संदेश है।

कवि इस युग का संदेशवाहक बना। अपने दार्शनिक लोक-कल्याण-कारी विचारों को प्रसारित करने का सर्वाधिक सुंदर साधन उसने साहित्य को समझा और उसी के द्वारा अपने विचारों का प्रसार भी उसने किया। इस युग के प्रायः सभी कवि, जिनकी गणना उच्च श्रेणी के साहित्यकारों में की जा सकती है, किसी-न-किसी सम्प्रदाय के प्रवर्तक रूप में या उसके अनुगामी के रूप में प्रकट हुए। अतएव बन्धन की सीमा तो थी ही किंतु तुलसीदास, मीरा, आदि अपवाद हैं। यद्यपि संप्रदाय का यह व्यापक बंधन प्रायः सभी कवियों पर था तो भी अनेक की भावधारा हृदय के अत्यंत समीप पड़ती है, यथा सगुण उपासना-पद्धति या सूफी प्रेम-पद्धति के अनुगामियों की, यद्यपि इनमें कहीं-कहीं खंडन-मंडन की प्रवृत्ति का भी दर्शन होता है। एक संप्रदाय का कवि दूसरे संप्रदाय के कवियों की भावधारा को समाज के अनुपयुक्त ठहराता है किंतु कबीर को छोड़कर प्रायः सभी कवि इसको साहित्य की सरस रसमय पद्धति पर कहते हैं। इसके सुंदर साहित्यिक उदाहरण इस युग में निर्मित भ्रमर गीत हैं। सूफी कवि और तुलसीदास तो महान् समन्वयवादी दृष्टिकोण लेकर आए थे। उन्हें जो कहना था, जिसको उन्होंने युग के अनुरूप समझा, अपने ढंग से उसे कह दिया।

कबीर न केवल एक खंडन-मंडन करने वाले दार्शनिक के रूप में उपस्थित हुए अपितु उनके भीतर एक समाजचेता विद्रोही की सक्रिय भावना का भी दर्शन होता है। समाज की कट्टरता के शिकार तो सभी

थे पर कबीर घौंस का जवाब लट्ठ से देने के पक्षपाती थे। प्रायः अन्य कवियों में अपनी बात के कहने की रागात्मक प्रवृत्ति पायी जाती है।

सबसे बड़ी विशेषता इन युग की जो दिखाई पड़ती है वह यह कि पूर्ववर्ती हिंदी की काव्यधारा व्यक्ति-पूजा की ऊबड़-खाबड़ संकुचित भूमि पर बहती थी, किंतु इस युग के समर्थ कवियों ने व्यक्ति का परित्याग कर उसे समाज-गंगा के रूप में प्रवाहित किया। उस प्रभाव से अनेक धाराएँ फूटीं, जो गौरव की पावन गाथा छिपाए हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि अमुक काव्यधारा अच्छी है, अमुक बुरी है, अमुक उपादेय थी, अमुक अनुपयोगी, किंतु यह कहनेवाले प्रायः इस बात को भूल जाते हैं कि उस युग के सभी कवि जिनकी गणना वास्तव में उच्च-कोटि के कवियों में हो सकती है, तथा जो हिंदी की शोभा हैं, उन्होंने अपने-अपने ढंग से समाज के कल्याण के लिए काव्य का निर्माण किया। जब प्रतिभाएँ एक साथ उद्भूत होती हैं तो उनका सोचने का ढंग विलग-विलग होता है। अलग-अलग ढंग से उन कवियों ने समाज के मानस में जीवन की प्राण-प्रतिष्ठा की। वे पूर्व परम्परा से अवगत थे और प्रायः उनमें से सभी (निर्गुनिए संतों को छोड़कर) पढ़े-लिखे पंडित थे। प्रतिभा के साथ ज्ञान का यह संयोग उस युग के साहित्य को उत्कृष्ट बनाने में अत्यत सहायक हुआ। उस युग में लोग यह जानते थे कि काव्य के व्यापक प्रसार के लिए सुंदर संगीत तत्त्व की भी अपेक्षा है, उससे वे परिचित थे। तुलसी, मीरा, सूर, कबीर सभी के पद गेय हैं। उन्होंने स्वर-संधान किया था। सबके काव्य में स्थल-स्थल पर चित्रमयता के दर्शन भी होते हैं। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो इतना बड़ा समन्वय-वादी युग काव्य की दृष्टि से हिंदी की परम्परा को कभी भी प्राप्त नहीं हुआ।

जितनी जीवनी-शक्ति इस युग के साहित्य में है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। यदि इस युग का समस्त हिंदी-काव्य विश्व की किसी भी भाषा के काव्य के समकक्ष रखा जाय तो हिंदी की गरिमा बढ़ानेवाला ही होगा। अभी तक जितना भी हमारा भक्तिकाल का साहित्य उपलब्ध है, वह राजस्थान और मध्यप्रदेश ही नहीं, समस्त भारत के कृतिकारों की देन

है। इस युग के प्रायः सभी उत्कृष्ट साहित्यकारों ने इस लोक की चिंता तो अपने साहित्य में की ही है, पारलौकिक विषयों पर तथा परमात्मा के संबंध में काफी चिंतन अलग-अलग ढंग से किया है। साहित्य में धार्मिक भावना इस युग में चरम उत्कर्ष तक पहुँच गई तथा रचनात्मक साहित्य का प्रणयन भी अत्यन्त सुंदर ढंग से किया गया।

प्रायः कुछ लोगों को इस युग में राष्ट्रीय चेतना का अभाव दिखाई पड़ता है किंतु सामाजिक नवनिर्माण की चेतना व्यापक रूप से युग के समस्त साहित्य में दिखाई पड़ती है। भाषा के संबंध में इस युग को ऐसा युग माना जा सकता है जब से हिंदी के स्वतंत्र और प्रौढ़ रूप का प्रदर्शन होता है। अवधी और ब्रज भाषा की रचनाएँ न केवल कलात्मक दृष्टि से, न केवल भाव की दृष्टि से, अपितु भाषा-सौंदर्य की दृष्टि से अपनी मर्यादा के अनुरूप ही हैं। अवधी के विकास की दृष्टि से इतना सुंदर काल भारत के इतिहास में दिखाई नहीं पड़ता। सूफी कवियों तथा गोस्वामी तुलसीदास ने उसमें प्राणवान सुंदर साहित्य की रचना की और हिंदी का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'रामचरितमानस' अवधी में ही लिखा गया। परम्परा से प्राप्त भावधारा भी इस युग में लुप्त नहीं हुई। उसका रूप किसी न किसी प्रकार चलता रहा। इस युग में भी वीर शृंगार की रचनाएँ होती रहीं। जहाँ तक राजाश्रित कवियों का प्रश्न है वे भी इस युग में भारत के तत्कालीन सम्राट् तथा अन्य सामंतों के यहाँ थे। कलावंतों की पूछ बढ़ती गई। शौर्य-शृंगार काल की अपेक्षा इस युग में उनका सम्मान बढ़ा। केशव, गंग आदि राजाश्रित कवि अत्यंत प्रतिष्ठा के साथ दरबार में सम्मानित किये जाते थे। इस युग में रीतिशास्त्र के प्रणयन का कार्य भी आरम्भ हुआ। रहीम, तुलसीदास, कृपाराम आदि कवियों ने इसका बीजारोपण किया और केशव ने उसका प्रवर्तन किया। रीतिकालीन भावनाओं की उद्भावना की परम्परा चली, वह बराबर नया रूप लेती गई और उसका विकास ही रीतिकाल की कविता को मान सकते हैं। इस युग में धार्मिक सिद्धांतों की अभिव्यक्ति के लिए काव्य का निर्माण आरम्भ हुआ।

यदि इस युग की भक्ति-संबंधी रचनाओं को सम्प्रदायों के आधार पर

बाँटा जाय तो अनेक सम्प्रदाय और विचार के कवि दिखाई पड़ेंगे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने व्यापक रूप से उन्हें निर्गुण उपासक और सगुण उपासक के अंतर्गत विभाजित किया है। निर्गुणों में ज्ञान-मार्ग पर चलने वाले कवि, जिन्हें संत काव्य के अंतर्गत अंतर्निहित किया जा सकता है, तथा निर्गुणिया सूफी कवि माने गए। सगुण उपासना में रामभक्ति और कृष्णभक्ति नामक उपविभाग माने जाते हैं। राम और कृष्ण की भक्ति को लेकर इस युग में इन कवियों ने रचना की। इन समस्त कवियों का उपविभाजन इस्लामी प्रभाव और भारतीय प्रभाव वाले दो विभागों में भी किया जा सकता है। भारतीय प्रभाव के अन्तर्गत सगुण उपासना वाले और मुसलमानी प्रभाव के अन्तर्गत निर्गुण उपासनावाले अर्थात् संत और सूफी कवि आएँगे।

निर्गुण साहित्य

सिद्ध साहित्य और नाथ संप्रदाय की चर्चा पहले ही की जा चुकी है, और यह भी संकेत दिया जा चुका है कि इनका व्यापक प्रभाव संत मत पर पड़ा। निर्गुण संप्रदाय के महान् साधक नामदेव कबीर के पहले हुए। इनका नाम संत साहित्य में बड़ सम्मान के साथ लिया जाता है। इनका जन्म सतारा से थोड़ी दूर पर नर्सी बेनी नामक गाँव में सं० १३२५ में हुआ। उन्होंने हिंदी में भजन रचे, जिनका संग्रह गुरु ग्रंथ साहब में है। रामानन्द के १२ शिष्यों में से कबीर ने हिंदी में संतमत का प्रवर्तन किया। संत-साहित्य के अध्याय में विशेष रूप से उस पर विचार किया जायगा। किसी न किसी रूप में संत-साहित्य अठारहवीं शताब्दी तक निरंतर चलता रहा किन्तु उसके भीतर आपस में ही कलह, विग्रह और विभिन्न उपसंप्रदायों में बँटे अपने संप्रदाय को उन्नत ठहराने की भावना ने लोकजीवन से अलग कर दिया। उनके भीतर बुरे आचरण तथा पैसा कमाने का चस्का भी व्याप्त हो गया। कबीर आदि संतों की वाणियों के विरुद्ध ये चलने में नहीं हिचके। यद्यपि उन संतों के नाम पर ही इनका अस्तितत्व था तो भी निरंतर ये उनकी उपेक्षा करते रहे। कबीर की मूर्तियों की पूजा आरंभ हुई जो इनके मत और सिद्धांत

के विरुद्ध था। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज के भीतर इनकी मर्यादा समाप्त हो गई और ये लुप्तप्राय हो गए।

संतों के मत का प्रसार उन लोगों में होता था जो पढ़े-लिखे नहीं थे। जो समाज से पीड़ित थे, जाति-पाँति के बंधन से जिनका सामाजिक बहिष्कार या अपमान होता था। किंतु सुंदर दास को छोड़कर कोई भी संत न तो बहुत बड़ा पंडित, न आचार्य ही हुआ, जो पढ़े-लिखे लोगों में संत साहित्य की प्रतिष्ठा कर पाता। काव्य-तत्त्व की दृष्टि से भी इनके काव्यों में साहित्य की मर्यादा का या तो अतिक्रमण किया गया है या प्रचारात्मक रचनाएँ अधिकतर लिखी गई हैं। अतएव अधिक समय तक इनकी रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से जीवित न रह सकीं, भले ही उनमें हृदय की सहज सुंदर अभिव्यक्ति ही क्यों न हो।

संत-काव्य की रूपरेखा

(१) सैद्धांतिक : (क) एकेश्वरवाद तथा निर्गुण निराकार ईश की उपासना। हठयोग द्वारा साधना की चरम परणति।

(ख) गुरु की सर्वोपरि महत्ता।

(ग) मूर्तिपूजा आदि की व्यर्थता।

(२) सामाजिक : जाति-पाँति के भेद का उच्छेदन, मानव की समता का उद्‌बोध, धार्मिक बाह्याडम्बर तथा पाखण्डों का उन्मूलन, अहिंसा की साधना। प्रभावित करने वाले तत्त्व—सिद्धों और नाथपंथियों का प्रभाव, विशेषकर हठयोग के सम्बन्ध में मुसलमानी प्रभाव, भारतीय प्रभाव। डॉ० रामकुमार वर्मा ने बड़े ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से उन सभी आध्यात्मिक भावनाओं का संकलन करने का प्रयत्न अपने आलोचनात्मक साहित्य में किया है। वह अत्यन्त समीचीन तथा सुंदर है, उसे अविकल यहाँ दिया जा रहा है—

१. क्रियात्मक : सत्पुरुष (निराकार, ईश्वर) नाम, स्मरण, अनहद शब्द, भक्ति सुरत, विरह, पतिव्रता-प्रेम, विश्वास, 'निजकर्ता को निर्णय', सत्संग, सहज, 'सारगहनी' मौन, परिचय, उपदेश, 'साँच', उदारता, शील, क्षमा, संतोष, धीरता, दीनता, दया, विचार, विवेक, गुरुदेव, आरती।

२. ध्वंसात्मक : चेतावनी, भेष, कुसंडा, काम, क्रोध, लोभ, 'मोह, मान और हठता' कपट, आशा, तृष्णा, मन, माया, कनक और कामिनी, निद्रा, निंदा, स्वादिष्ट आहार, मांसाहार, नशा, 'आनदेव की पूजा', तीर्थव्रत, दुर्जन, आदि।

सामाजिकता की भावना के अंग निम्नलिखित हैं—

१. क्रियात्मक : चेतावनी, समदृष्टि।

२. ध्वंसात्मक : भेदभाव, चेतावनी।

साहित्यकता : एक ही बातों का सभी कवियों द्वारा बार-बार उसी ढंग तथा दृष्टि से पिष्टपेषण, साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के प्रसार के रूप में साहित्य का उपयोग तथा साहित्यिकता का अत्यन्त अभाव।

प्रयोजन : अपढ़ जनता के भीतर अपने मत का प्रसार।

भाषा : पूर्वी हिंदी, राजस्थानी और पंजाबी तथा विभिन्न बोलियों का मिश्रण। शृंगार रस—शान्त, बीभत्स और अद्भुत रस।

विशेषता : काव्य में रहस्यवाद की उद्भावना।

[illegible]

यह है कि इन्होंने लौकिक पक्ष के उन कथानकों को लिया जो कि समाज में प्रेम कथानक के रूप में बहुत समय से प्रचलित हैं। प्रचलित कथाओं के द्वारा लोगों के ऊपर अधिक व्यापक प्रभाव डाला जा सकता है।

सूफी एक ईश्वरवादी होता है तथा आत्मा और हक (ईश्वर) में

कोई भेद नहीं मानता। उसके भीतर अद्वैत भावना प्रधान है। आत्मा और हक के मिलन का एकमात्र उपाय प्रेम है। अंतिम अवस्था में आत्मा और परमात्मा में मिलन हो जाता है और निःस्वार्थ, निष्काम प्रेम के द्वारा ही व्यक्ति परमात्मा में मिल सकता है। किंतु अनेक कठिनाइयाँ और बाधाएँ आती हैं जिसके लिए गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु न केवल मार्ग-प्रदर्शन करता है अपितु ज्ञान की ज्योति से मार्ग को प्रकाशित भी करता है। इनके यहाँ आत्मा के लिये बंदा, प्रेम के लिए इश्क, परमात्मा के लिए हक, साधना की अंतिम अवस्था के लिए मारिफ शब्दों का प्रयोग होता है और गुरु के लिए पीर शब्द का। सम्मिलन के बाद आत्मा फनां होकर बका के लिये तैयार होती है। मोटे रूप से इनके ये सिद्धांत हैं।

सूफी काव्य-परंपरा में प्राणवान कवियों में मुसलमान ही अधिक हुए। कुछ हिंदू कवि—यथा पाकर, काशीराम, प्रेमचंद्र, मृगेन्द्र आदि ने भी रचनाएँ कीं किंतु उनका कोई विशेष साहित्यिक महत्त्व नहीं है। इन्होंने दोहा चौपाई की मसनवी पद्धति पर प्रेम-कथाएँ लिखीं और हिंदू-मुस्लिम संस्कृति के सम्मेलन का अच्छा प्रयास किया। इनका प्रभाव जनता पर संत कवियों से कम न था। संक्षेप में इनके साहित्य की रूप-रेखा इस प्रकार होगी—

प्रेम-कथा : इनकी प्रेम-कथाओं में सूफी-सिद्धान्त का निरूपण होता है।

विषय : हिन्दू कथाओं के आधार पर हिन्दू आदर्शों की रक्षा करते हुए सूफी सिद्धान्तों की व्याख्या। इनकी प्रेम-कथाएँ, एक प्रेमी का प्रेमिका से अगाध प्रेम, विरह, प्रेम की कठिनाइयों, गुरु द्वारा उपदेश, गुरु द्वारा मार्ग-प्रदर्शन, अंत में महामिलन और सूफी-सिद्धान्तों के अनुसार आध्यात्मिक रूपक में समाप्त होती हैं।

भाषा : अवधी।

छंद : दोहा, चौपाई की मसनवी शैली।

रस : श्रृंगार—वियोग और संयोग दोनों पक्ष, और रस गौण रूप से।

विशेषता : रहस्यवाद 'जो हृदय के अत्यंत निकट हैं' का प्रवर्तन। आख्यानों की साहित्य में ठोस परम्परा। अवधी की संवद्धि।

रामभक्ति-साहित्य की रूपरेखा

राम की भक्ति के अंतर्गत रामानुजाचार्य का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। उन्होंने विशिष्ट अद्वैत मत का प्रचार किया। उन्होंने समस्त प्राणियों को ब्रह्म के अंश के रूप में माना है तथा उनके दो भाग किये हैं—चित् और अचित्। जीव ब्रह्म से उद्भूत होता है और उसी में लीन हो जाता है। परब्रह्म या परमात्मा से जीव का अस्तित्व अलग है। दोनों का निर्माण एक ही तत्त्व से होता है। दोनों का अस्तित्व अलग रहते हुए भी जीव ब्रह्म से नैकट्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। और जीव और ब्रह्म का यह सम्मिलन प्रलय के बाद पुनः अलग हो जाता है। इसे दार्शनिक रामानुज के विशिष्ट अद्वैत के नाम से पुकारते हैं। रामानन्द नारायण और विष्णु की उपासना-पद्धति के प्रवर्तक थे। रामानुज ने अपने मत का भी प्रचार किया किंतु उनके १४ गद्दी बाद रामानन्द ने विष्णु के अवतार के रूप में राम का रूप प्रतिष्ठित किया जो कि अत्यंत व्यापक रूप में तुलसी द्वारा प्रतिष्ठित किया गया। इस सम्बन्ध में रामभक्ति के साहित्य में प्रकाश डाला गया है। संत सम्प्रदाय में भी रामानन्द के शिष्य होने के कारण कबीर ने राम-नाम ग्रहण किया। किंतु राम की कथा की परंपरा नई नहीं, साहित्य में बड़ी पुरानी है। जैन कवियों के अन्तर्गत कवि स्वयंभू की चर्चा की जा चुकी है और भूपति ने भी राम-कथाओं की रचना तेरहवीं शताब्दी के अन्त में और चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में की। भगवत, चंद, मुनिलाल आदि कवि भी राम के सम्बन्ध में रचना पहले ही कर चुके थे। हिन्दुओं को राम के उस रूप ने अत्यधिक प्रभावित किया जिसने तुलसीदास की शील-शक्ति-सौंदर्यमयी गरिमा का लोगों को उद्बोध कराया। बाद में रीतिकालीन राम को रसिया राम बना लिया गया और रामभक्ति का भाव यद्यपि जन-जीवन में रहा और तुलसीदास की मान्यताओं के अनुरूप रहा, फिर भी साहित्य में यह धारा क्षीण होती गई और अंत में आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त ने राम का मर्यादित रूप प्रस्तुत किया तथा राम की शक्ति-पूजा पर निराला ने इतनी सुंदर रचना की जितनी सुन्दर रचना खड़ी बोली में स्फुट रूप से नहीं की गई। रामभक्ति के साहित्य में तुलसीदास जैसा

महान कवि हुआ जिसकी रचना हिंदी की सबसे बड़ी संपत्ति है। राम-साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ दी जा रही है।

विषय: राम-संबंधी रचनाओं द्वारा दास्य-भक्ति का प्रचार। व्यापक दृष्टिकोण द्वारा लोक-जीवन में कथाओं को आधार बना शील-शक्ति सौंदर्यपूर्ण रामभक्ति का प्रसार।

मत: विशिष्ट अद्वैत के अनुसार दास्य-भक्ति का प्रतिपादन।

शैली: प्रबंध और मुक्तक।

भाषा: अवधी और ब्रज तथा कहीं-कहीं बुंदेलखंडी, भोजपुरी, अरबी तथा फारसी शब्दों का उपयोग।

रस: सामान्यत: सभी। विशेष रूप से शांत और श्रृंगार।

छंद: प्रबंध काव्यों में दोहा, चौपाई, कुंडलिया, छप्पय, सवैया, सोरठा, घनाक्षरी, तोमर, त्रिभंगी आदि।

कृष्णभक्ति के साहित्य की रूपरेखा

लगभग चौथी शताब्दी से ही कृष्ण की भावना का साक्षात्कार हमारे संस्कृत के वाङ्मय में होता है। कृष्ण का मधुर रूप युग के साहित्य में उपस्थित हुआ और बाद में बराबर वह रूप चलता रहा। रीतिकाल में रसिया कृष्ण थे और आधुनिक काल में हरिऔध और द्वारकाप्रसाद मिश्र ने उनके स्वस्थ रूप को क्रमश: 'प्रियप्रवास' और 'कृष्णायन' में उपस्थित किया। कृष्णचरित्र को लेकर हिंदी में सर्वाधिक काव्य का प्रणयन किया गया, जिसमें मुक्तकों की प्रधानता है। कृष्ण-काव्य के मुक्तक अपने चरम उत्कर्ष पर हिंदी में मिलते हैं। प्रमुख रूप से इसके प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य थे तथा सख्य भाव से मधुर उपासना-पद्धति द्वारा कृष्णभक्ति के साहित्य का प्रणयन किया गया। सूरदास इस धारा के सर्वप्रमुख कवि हैं। इस साहित्य के संबंध में कृष्णभक्ति के साहित्य के अध्याय में विचार किया गया है। यहाँ इसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

विषय: भागवत के दशम स्कंध के आधार पर कृष्ण के विभिन्न चरित्रों का वर्णन। रामलीला, भ्रमर-गीत, नखशिख-सौंदर्य, गोप और गोपिकाओं का कृष्ण के प्रति प्रेम, ऋतु-वर्णन, नायिका-भेद।

रस : शृंगार (संयोग और वियोग), शांत और अद्भुत।

भाषा : परिष्कृत ब्रजभाषा।

अब अलग-अलग इन कवियों तथा साहित्य पर विचार किया जाएगा। यह युग हिंदी कविता की दृष्टि से स्वर्ण-युग था।

कबीर

कबीर का मार्ग : कबीर निर्गुण उपासना-पद्धति में विश्वास रखने वाले संत कवि थे। यद्यपि उनका ब्रह्म निर्गुण और सगुण से परे था, तो भी उन्होंने प्रायः 'राम' शब्द का ग्रहण अपने ब्रह्म के लिए किया है। यह 'राम' शब्द उन्हें रामानंद के पास प्राप्त हुआ था, पर कबीर ने इसे उस रूप में ग्रहण नहीं किया जिस रूप में रामानंदी संप्रदाय में राम ग्रहण किए जाते हैं। कबीर पंडित और विद्वान नहीं थे, उन्होंने अपना मार्ग लोक-जीवन में प्राप्त सामाजिक अनुभूतियों के आधार पर प्रशस्त किया था। वे क्रांतदर्शी तो थे ही, उनके भीतर सारग्राही बुद्धि भी थी। इसलिए उन्होंने समाज में जो कुछ भी अपनी दृष्टि से कल्याणकारी देखा, उन सबका समन्वय करने का प्रयत्न किया। उन्होंने इन सब तत्त्वों से खिचड़ी नहीं पकाई, अपितु उस भाँति का प्रयत्न किया जिस भाँति का प्रयत्न एक कुशल रंगवेत्ता विभिन्न रंगों को मिलाकर एक नए रंग की सृष्टि कर सकता है।

उनके मत में जो तत्त्व मूलतः दिखाई पड़ते हैं वे इस प्रकार हैं—

ईश्वर एक है। रूप, आकार तथा निर्गुण और सगुण से परे उसकी सत्ता स्थिर है। वह संसार का सृष्टिकर्त्ता है। वह घट-घट में रमनेवाला है। उससे महामिलन जीवन का चरम साध्य है। उसकी प्राप्ति हठयोग की भक्तिमयी उपासना पद्धति से ही संभव है।

गुरु की महत्ता गोविंद से बढ़कर है क्योंकि ब्रह्म से मिलन का पथ बिना गुरु के ज्ञात हो ही नहीं सकता।

हठयोग द्वारा शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं पर विजय प्राप्त करना ब्रह्म से मिलने का मार्ग है। साथ ही प्रेम की महती साधना भी इसमें समाहित है।

कबीर ने माया के सत् रूप को ग्रहण किया। उनके अनुसार माया का जनक सत् पुरुष है। माया दो प्रकार की है, सत्य और मिथ्या। सत्य माया ब्रह्म की साधना में सहायक होती है और मिथ्या माया सांसारिक जंजाल में जकड़ने का जाल प्रस्तुत करती है।

इसके साथ ही उन्होंने समस्त मानव के भीतर किसी भी प्रकार के भेदभाव के विधान को तो अस्वीकार किया ही, सब में एक ही सांई को रमते तो देखा ही, अहिंसा के महान् तत्त्व को भी अपने मत का एक आवश्यक अंग उन्होंने बनाया। एक-दूसरे के प्रति प्रेम की व्यापक मंगलकारिणी भावना का विधान भी कबीर के मत में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। नैतिकता को अत्यन्त व्यापक प्रश्रय भी दिया गया। इन तत्त्वों में से अनेक तो भारतीय हैं और अनेक मुस्लिम सभ्यता के संपर्क के परिणाम हैं।

जीवन-परिचयः निर्गुण साधकों में कबीर का स्थान अप्रतिम है। कहा जाता है कि वे जाति के जुलाहे थे और ऐसे जुलाहे थे जो प्रारम्भ में तो हिंदू थे किंतु बाद में इनका परिवार मुसलमान हो गया। जनश्रुति के अनुसार कुछ लोगों का यह भी कहना है कि वह हिंदू परिवार में उत्पन्न हुए और मुसलमान परिवार में पाले-पोसे गये। डॉ० बड़थ्वाल की मान्यता है कि 'कबीर मुसलमान कुल में केवल पाले-पोसे ही नहीं गये थे, पैदा भी हुए थे।' इस बात को भी कुछ लोग मानते हैं कि ये विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे और लोक-मर्यादा के भय से अपनी माँ द्वारा लहरतारा (काशी) पर फेंक दिये गए तथा नीरू और नीमा ने इन्हें पाला-पोसा था। जो कुछ हो, यह निर्विवाद रूप से सत्य लगता है कि किसी मुसलमान परिवार में उनका पालन-पोषण हुआ था। उनका पालन-पोषण हिंदू भावों से प्लावित काशी के उस वातावरण में हुआ था जहाँ के जन-मन में भारतीय संस्कृति का अजस्र निवास है। कबीर के आचार-विचार में भी जिस हिंदुत्व का उद्रेक परिलक्षित होता है वह भी इस बात का प्रमाण है कि कबीर हिन्दू संस्कृति के अन्तर्भावों से अत्यन्त अनुप्राणित थे। उन्हें इस बात का गर्व था कि वे काशी के थे, भले ही जुलाहे थे। उनके पदों से

स्पष्ट ज्ञात होता है कि काशी के सांस्कृतिक वातावरण से उन्हें सदा अन्यतम व्यामोह था और उन्होंने स्वयं कहा है कि 'सकल जन्म सिवपुरी गँवाया'। कुछ लोग मगहर में उनका जन्मस्थान बताते हैं किंतु ऐसा लगता है कि उनके किसी भक्त ने मगहर का होने के कारण मगहर की महत्ता बढ़ाने की दृष्टि से यह कथा गढ़ दी है। यद्यपि उनका पर्यवसान मगहर में ही हुआ तो भी जीवन के अन्तिम दिनों में काशीवास के लिए उनका जी मचल उठता है और मगहर का निवास वह उसी प्रकार मान उठते थे जिस प्रकार जल के बाहर मीन।

कबीर के जन्मादि के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। कबीर का जन्म संवत् १४५५ के जेठ की पूर्णिमा को माना जाता है।

पर डॉ० श्यामसुंदर दास तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे १४५६ माना है क्योंकि गणना के हिसाब से ५५ की नहीं, ५६ की पूर्णिमा को सोमवार पड़ता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने १४५५ ही माना है, पर डॉ० बड़थ्वाल की राय में कबीर का जन्म संवत् १४२७ के आस-पास है।

कबीर के गुरु के संबंध में भी दो विचार हैं। कुछ लोग रामानंद को कबीर का गुरु और कुछ लोग शेख तकी को इनका गुरु मानते हैं। वास्तव में रामानंद के ही वे शिष्य थे। उनकी रचनाओं में जगह-जगह राम का उल्लेख इसका प्रमाण है। उनके शिष्य धर्मदास, गरीबदास भी उन्हें रामानंद का ही शिष्य मानते हैं।

रामानंद की इतनी विशाल महिमा गाना कबीर-जैसे अक्खड़ व्यक्ति के लिये तभी संभव था जब उन्हें वह पूर्ण रूप से अपना गुरु समझें। इस संबंध में यह बात प्रसिद्ध है कि प्रारंभ में कबीर की जाति के कारण रामानंद उन्हें शिष्य बनाने को तैयार नहीं हुए। परंतु बाद में एक दिन वे सदैव की भाँति पंचगंगा घाट पर स्नान करने जा रहे थे। भोर में कबीर सीढ़ी पर लेट गए और जब उनके पैर से कबीर का स्पर्श हुआ तो एकाएक वह 'राम-राम' कह उठे। कबीर ने इस 'राम-राम' शब्द को यह कहकर ग्रहण किया कि आपने मुझे गुरुमंत्र दे कृतकृत्य किया। गुरु पर शिष्य की यह विजय-कहानी भारतीय संस्कृति की वह निधि अपने

भीतर समेटे है जिससे एक नवीन चेतनासंपन्न नवजीवन का उद्रेक होता है। शिष्य ने गुरु की आँखें खोल दीं और उनके मानस की परिधि आकाश-सी विशाल हो उठी।

कहा जाता है कि कबीर की शादी लोई नाम की महिला से हुई थी। पर डॉ० बड़थ्वाल कबीर की अर्द्धांगिनी धनिया नामक किसी स्त्री को मानते हैं जिसका नाम बदलकर कबीर ने रामजनिया कर दिया था। कबीर के एक पुत्र और एक पुत्री भी थी, जिनके नाम कमाल और कमाली थे। ऐसा ज्ञात होता है कि कबीर उनसे संतुष्ट नहीं रहते थे।

श्री क्षितिमोहन सेन के 'दादू' के सहारे पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस बात को प्रमाणित करना चाहते हैं कि कबीर ने किसी संप्रदाय का संगठन नहीं किया बल्कि उनके शिष्यों ने कबीर सम्प्रदाय की स्थापना की। किंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। कबीर ने दूर-दूर तक अपने सिद्धांतों का प्रचार और प्रसार किया। हिंदू और मुसलमान दोनों को शिष्य बनाया। बड़े-बड़े राजा और नवाबों को भी उन्होंने अपनी शिष्य-मण्डली में सम्मिलित किया। बघेल राजा वीरसिंह और बिजली खाँ उनके शिष्यों में थे। उनके साथ चेलों की जमात चलती थी। अपने मत के प्रचार के लिये जिस संगठित विरोध का सामना उन्हें जीवन में करना पड़ा उसके लिये एक संगठित शक्ति की नितांत आवश्यकता थी और उन्होंने निश्चय ही इसका संगठन किया होगा, क्योंकि जिस अक्खड़ स्वभाव की अभिव्यक्ति कबीर के पदों में मिलती है, उस अक्खड़ स्वभाव का व्यक्ति संगठन के अभाव के कारण अपने मत के प्रसार पर किसी प्रकार की रोक लगने देना पसंद नहीं कर सकता। यह उनके पौरुष का परिचायक है इसीलिये उन्होंने संप्रदाय चलाया, चेले बनाये, जिनमें सभी जाति के लोग थे। उनके प्रसिद्ध चेलों में धर्मदास, सूरतगोपाल, जग्गूदास और भगवानदास आदि हुए। इन शिष्यों द्वारा छत्तीसगढ़, मध्यप्रांत, उत्तर-प्रदेश, दिल्ली, पहाड़ के डोम तक में इनके मत का प्रचार और प्रसार हुआ। जीवन में उन्हें व्यापक ख्याति मिली।

जीवन के अन्तिम दिनों में कहा जाता है कि कबीर का काशी में उग्र विरोध आरम्भ हुआ और इस विरोध के कारण उन्हें मगहर की शरण लेनी पड़ी। लेकिन अपने अक्खड़पन के कारण काशी से सतत व्यामोह होने पर भी उन्हें कहना पड़ा कि 'जो कबिरा कासी मरै, तो रामहि कौन निहोर' और मगहर में ही उनका देहावसान हुआ।

कुछ लोग उनकी मृत्यु संवत् १५०५ में मानते हैं और कुछ उसे १५७५ वि० स्थिर करते हैं।

कबीर की रचनाएँ : कबीर न तो पढ़े-लिखे थे, न जीवन में उन्होंने कागज और स्याही का स्पर्श ही किया था। उनका उद्देश्य भी काव्य का सर्जन नहीं था। वे तो अपने विचारों और मत के प्रचार के लिये पद-संरचना करते थे। यह बात उन्हें नाथ-संप्रदाय की परंपरा से प्राप्त हुई थी, क्योंकि इसके द्वारा मत-प्रचार में सुविधा होती थी। कहा जाता है कि जब कबीर की अवस्था चौंसठ वर्ष की थी, तब उनके शिष्य धर्मदास ने उनकी रचनाओं का संग्रह किया था। पर वह प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। ऐसे तो कबीर की रचनाओं के कम-से-कम स्फुट संग्रहों की संख्या ६९ है, पर वे एक-दूसरे से लिये हुए अप्रामाणिक और सांप्रदायिक हैं। पूरनदास वाला बीजक प्रकाशित बीजकों में सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है।

डॉ० श्यामसुंदर दास द्वारा संपादित तथा सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर ग्रंथावली' की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। यह ग्रंथावली जिन दो ग्रंथों पर आधृत है डॉ० श्यामसुंदर दास ने उनका लिपिकाल क्रमशः सं० १८५१ और १८८१ बताया है। इन तीन पुस्तकों में, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उनमें से भाषा के आधार पर सांप्रदायिकताविहीन पदों को विद्वानों ने कबीर के अध्ययन का आधार बनाया है। इसके अतिरिक्त कोई चारा भी तो नहीं! क्योंकि उनके भक्तों ने अपने संप्रदाय के अनुसार विभिन्न लीलावाले उनके अनेक पदों तक का भी संकलन उनके नाम से किया है; क्योंकि कबीर के नाम से उसी प्रकार मत-प्रसार में बाद के सन्तों को सहायता मिली होगी जैसी आज राजनैतिक नेताओं को गांधीजी के नाम से मिलती है।

इसलिए बहुत घपलेबाजी लगती है। कबीर के विरोधियों द्वारा उनके नाम से ही अनेक पद बनाकर प्रसारित कर दिये गये हों तो भी कोई आश्चर्य नहीं।

कबीर का साहित्य : कबीर ने जिस समय पदों में अपने मत का प्रचार आरम्भ किया उस समय तक यद्यपि पुरानी हिंदी 'अपभ्रंश' की रचनाएँ, विद्यापति के गीत तथा खुसरो की मुकरियाँ हिन्दी की सम्पत्ति बन चुकी थीं, तो भी साहित्यिक दृष्टि से युगान्तरकारी महान् रचना की परम्परा बहुत अधिक पल्लवित नहीं हुई थी। उन्होंने पदों की रचना अपने मत के प्रचार के लिए की। यह पद-रचना की भावना उन्हें तत्कालीन समाज में व्याप्त अन्य संप्रदायों की, विशेषकर नाथ संप्रदाय के हठयोगियों से प्रचार शैली की, देखा-देखी ग्रहण करनी पड़ी। समाज में मत-प्रचार के लिए पदों की रचना की उपादेयता आज भी संस्थित है, क्योंकि उससे लोगों को सहज ही आकर्षित करने में सहायता प्राप्त होती है। पर उस रचना की ओर लोग विशेष रूप से आकृष्ट होते हैं, जिसमें संगीत का तत्त्व निहित होता है। ऐसा लगता है कि कबीर यद्यपि अनपढ़ थे तो भी पदों में संगीत की महत्ता से अनभिज्ञ नहीं थे। यह संगीतत्व उन्हें संभवतः सत्संग और नाथ-संप्रदाय द्वारा प्राप्त हुआ होगा क्योंकि उनके अनेक पदों में संगीत-सौंदर्य का बोध होता है।

यद्यपि हिंदी के अनेक विद्वानों का यह अनुरोध है कि कबीर इसलिये एक महान कवि हैं कि उन्होंने जीवन के विराट् सत्य की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में की है। पर केवल सत्य के उद्घाटन मात्र से कोई भी रचना कविता नहीं हो सकती क्योंकि समाचार-पत्रों में प्रकाशित समाचार, अर्थशास्त्र के सिद्धांत, राजनीति के दाँव-पेचों का उद्घाटन करने वाले ग्रंथ, पद्यबद्ध होने मात्र से साहित्यिक रचना नहीं समझे जाते! साहित्य में न केवल सत्य का उद्घाटन होता है अपितु शिव और सुंदर का संयोग भी होता है। यह संयोग जितना ही रसमय पद्धति पर किया जाता है काव्य उतना ही अनूठा और अलौकिक बन पड़ता है। पर कबीर की रचनाएँ, एक विश्वास—और ऐसे विश्वास, जिसका संबंध पूर्णतया साहित्य से नहीं है—के प्रचार एवं प्रसार के लिये

लिखी गई हैं। कहीं-कहीं पर इन रचनाओं के भीतर काव्य के तत्त्वों का दर्शन भी हो जाता है, अतएव कवि के रूप में भी कबीर की एकदम उपेक्षा नहीं की जा सकती। पर मत-प्रचारक के रूप में उनका अपना विशिष्ट स्थान है।

इन रचनाओं के विषय हैं, समाज और आत्मसाधना। समाज के निर्माण-संबंधी उनकी रचनाओं में वर्ण और वर्णभेद के ऊपर आक्रमण दिखाई पड़ता है। जाति-पाँति के प्रति जो संकीर्ण भावना समाज में व्याप्त हो गई थी उसके प्रति भी विद्रोह की जागरूक चेतना के दर्शन कबीर की रचनाओं में होते हैं और वे एक बृहत्तर-मानव की कल्पना करते हैं जो एक है, जो केवल पांच-तत्त्व का पुतला मात्र है।

हिन्दू कहूँ तो हौं नहीं, मुसलमान भी नाँहि।
पाँच तत्त्व का पूतला, गैबी सैले माँहि॥

ऐसी रचनाओं के द्वारा साम्य की भावना का प्रचार और प्रसार हुआ जो सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। साम्य-बुद्धि के प्रसार के लिए कबीर की रचनाओं में एक व्यापक उत्कण्ठा का दर्शन होता है। यथा —

समदृष्टि सतगुर किया, मेटा भरम विकार।
जँह देखो तँह एक ही, साहिब का दीदार॥
समदृष्टी तब जानिये, सीतल ममता होय।
सब जीवन की आतमा, लखै एक सी सोव॥

समाज में सत्य-ग्रहण के आग्रह के साथ कुटिल लोगों को भी कबीर ने कोसा तथा उनकी भर्त्सना की है।

करनी बिन कथनी कथे, अग्यानी दिन रात।
कूकुर ज्यों भूकत फिरै, सुनी सुनाई बात॥

पाखण्ड और आडम्बर का तीव्र विरोध तथा सत्य के ग्रहण का आकर्षण भी कबीर की रचनाओं में मिलता है। आडम्बर की पराकाष्ठा नाहक के भेदभाव, नश्वर मानव की लिप्सा, इन सबके संबंध में कबीर ने व्यापक दृष्टि से विचार किया है। वे सभी सद्वृत्तियाँ, जो तत्कालीन समाज के उत्थान के लिए कबीर की दृष्टि में परम आवश्यक थीं, प्रायः

उनकी सभी रचनाओं में एक मस्त व्यक्ति की भाँति मिलती हैं। अजब की बेपरवाही, फक्कड़पन की शाहंशाही, आत्म-संतोष का अनुभव उनकी रचनाओं के अध्ययन से होता है। उन्होंने स्वयं लिखा—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवां बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए, सोई साहनसाह ॥

कबीर का रहस्यवाद : दूसरी बात जो हम उनकी रचनाओं में पाते हैं, वह कवि की साधना से सम्बन्धित है। कबीर ने जगह-जगह अपने जीवन की अनुभूतियों को भी समाज के उत्थान के लिए नीति के दोहों में व्यक्त किया है। उनकी कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जो मत की साधना से संबंध रखती हैं। इंगला, पिंगला, सुषुम्ना आदि हठयोग भी अंतर्निहित गूढ़ता से सम्बन्धित पद निःसंकोच किसी दूसरे शास्त्र की सम्पत्ति हैं, इन्हें लेकर साहित्य के क्षेत्र में भी कबीर की गौरवगाथा गाना कोई साहित्यिक कार्य नहीं है। प्रायः लोग इन पदों को लेकर कबीर के संबंध में उनकी साहित्यिक महत्ता का गुणगान किया करते हैं। अगर यही स्थिति रही तो तमाम उस साहित्य को भी, जो हिंदी में पद्य-बद्ध रूप से वाणिज्य आदि के ऊपर भी मिलता है, साहित्य के अंतर्गत लेना ही होगा। इधर कबीर के रहस्यवाद की भी सतत चर्चा उठायी गई। कबीर ने उन पदों को, जिनमें उन्होंने ब्रह्म से या सत् पुरुष से अपने हृदय का निवेदन पत्नी के रूप में किया है, रहस्यवाद के अंतर्गत लिया जाता है। उदाहरण-रूप में नीचे उनकी एक रचना दी जा रही है—

ए अखियाँ अलसानी, पिया हो सेज चलो।
खंभा पकरि पतंग असि डोले, बोले मधुरी बानी ॥
फूलन सेज बिछाय जो राखी, पिया बिना कुम्हिलानी।
धीरे पाँव धरो पलँगा पर, जागत ननद जेठानी ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोक लाज बिछलानी ॥

दूसरी प्रकार की रचनाएँ वे हैं जिनमें अनहद नाद और ज्योतिबिंदु की बात रहस्यमय ढंग से की गई है। इसके भीतर ऐसी रचनाएँ आती हैं—

गगन गरज बरसे अमीं, बादर गहिर गँभीर।
चहुँ दिसि दमके दामिनी, भीजैं दास कबीर॥

तीसरी प्रकार की रहस्य भावनाएँ उनके उन पदों में मिलती हैं जिनमें कबीर ने परमात्मा के सान्निध्य की विलक्षण अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है। इसे वे गूंगे का गुड़ मानते थे। अतएव प्रतीकमयी भाषा में उसे कहते हैं। कुछ शब्द विशेष अर्थों के प्रतीक के रूप में सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं। यह रहस्य भावना कहीं-कहीं पर आत्मा के भीतर परमात्मा के खोज-संबंधी पदों में भी पायी जाती है। कबीर ने रूपक बाँधकर अपनी रहस्यमय वाणियों में अलौकिक आनन्द आबद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनकी उलटवासियों को भी रहस्यवाद के ही पद लोग बताते हैं।

यद्यपि कबीर की रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की व्यापक अभिव्यंजना है, तो भी उनकी शैली नाथ सप्रदाय के हठयोगियों की है। उन्होंने साखी और शब्द में अपने भाव अभिव्यक्त किए हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि गुरु के उपदेशों को ही साक्षी या साखी माना जाता है। दोहे और साखी का ढांचा एक ही है किन्तु भावनाओं की दृष्टि से साखी दोहे से अलग हैं। नीति-संबंधी तथा साखी से विलग दोहे, दोहरा कहे जाते हैं। पदों को शब्द कहा जाता है। कबीर ने गीति-छंद का भी प्रयोग किया है तथा ग्रामीण प्रयोग वाले कुछ कहँरवा छंद आदि भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। यद्यपि उनको साहित्यशास्त्र का ज्ञान नहीं था तो भी कबीर में अन्योक्ति आदि अलंकारों और अनुप्रासों का दर्शन इतस्ततः हो जाता है। उन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रभाववादी तार्किक शैली अपनायी है। उनकी यह तर्क-शैली उनके अक्खड़पन का प्रतीक तो है ही, कहीं-कहीं उसमें चुटीला व्यंग्य भी है। उन्होंने उलटवासियों की भी सृष्टि की है। उलटवासियाँ कबीर के पहले भी लिखी गई हैं। कहीं-कहीं इनकी उलटवासियों में भी रहस्य-भावना का स्पर्श है।

इनकी भाषा सधुक्कड़ी है। वे पढ़े-लिखे नहीं थे, छंद का उन्हें ज्ञान नहीं था, अलंकार की सौंदर्य-गरिमा का उन्हें परिचय नहीं था, पर वह

बहुश्रुत और बड़े घुमक्कड़ थे, इसीलिए जहाँ-जहाँ भी इन्होंने पर्यटन किया, सब जगह की भाषाओं में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों का प्रयोग इन्होंने किया। यद्यपि ये अपनी भाषा को ठेठ पूरबी बताते हैं तो भी वह एक विचित्र प्रकार की खिचड़ी है, जिसमें अनेक भाषाओं और बोलियों के शब्द बेमेल-से मिले पड़े हैं। अवधी, ब्रज, पूर्वी हिंदी, राजस्थानी, पंजाबी, संस्कृत और फारसी सभी भाषाओं के शब्द इनकी रचनाओं में मिलते हैं। इस प्रकार, भाषा की दृष्टि से इनकी रचनाएं महत्त्वपूर्ण नहीं। उनकी महत्ता तो भावों के अक्खड़पन में है।

कबीर अपने समय के अक्खड़, फक्कड़, मौलिक क्रांतिदर्शी तथा समाज-सुधारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। इनके द्वारा जग-जीवन का कल्याण हुआ है। मध्यकाल में एक क्रांति का सर्जन हुआ है। निश्चय ही इसके लिए भारत उनका ऋणी है। सम्भव है, काव्य की दृष्टि से उनकी महत्ता न हो लेकिन कवि के रूप में अपने भावों के कारण कबीर का एक अच्छा खासा स्थान है।

रैदास

रामानंद के शिष्यों में रैदास का नाम भी लिया जाता है। कहा जाता है कि ये जाति के चमार थे। इनके फुटकर पद मात्र प्राप्त हैं। यद्यपि सगुण उपासना का विरोध इन्होंने नहीं किया तो भी अपने पदों में यह सर्वत्र निर्गुणवादी हैं। इनके आत्म-निवेदन के पदों में हृदय की अनुभूति तो है ही, तात्त्विक भाव भी इन्होंने व्यक्त किए हैं।

दादू

सुप्रसिद्ध संत दादूदयाल संवत् १६०१ में अहमदाबाद में उत्पन्न हुए थे। इनकी जाति के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ उन्हें मोची, कुछ धुनिया और कुछ लोग उन्हें ब्राह्मण बताते हैं। दराना नामक स्थान में ये बस गये और वहीं संवत् १६६० में उनकी मृत्यु हो गई। दादू कई भाषाओं—यथा सिंधी, मारवाणी, मराठी, गुजराती तथा फारसी—के ज्ञाता थे और इन सभी भाषाओं में उनकी रचनाएँ मिलती हैं। उनकी

अधिकांश रचनाएँ राजस्थानी-मिश्रित हिंदी में हैं।

उन्होंने सांभर में ब्रह्म सम्प्रदाय की स्थापना संवत् १६३१ में की। दादू के साहित्य का अध्ययन करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे अधिकांशत: कबीर के मार्ग के अनुगामी थे। तुलसीदास के वे सम-सामयिक थे। उनकी वाणियों में कबीर-सा अक्खड़पन तथा असामाजिक वृत्तियों पर प्रबल प्रहार नहीं मिलता। वे कोमल और मीठी हैं। उनके साहित्य में कहीं भी उग्रता का दर्शन नहीं होता जो उनके पूर्ववर्ती संतों की रचनाओं में पायी जाती है। स्थान-स्थान पर उनकी रचनाओं में कवित्व के उत्तम उदाहरण मिलते हैं। वे प्रेम के अनन्य उपासक थे और प्रेम ही उनके जीवन का मूल मंत्र जान पड़ता है। भगवान के प्रति इनके विरह-निवेदन के पद अत्यन्त सरस बन पड़े हैं।

सुन्दरदास

सन्त काव्य की परम्परा में सुन्दरदास सर्वाधिक शास्त्रीय विद्वान, कविहृदय संत हुए। ये खण्डेलवाल वैश्य थे और देवसा नामक स्थान में चैत्र शुक्ल ९, संवत् १६५३ में उत्पन्न हुए तथा इनकी मृत्यु कार्तिक शुक्ल ८, संवत् १७८६ में हुई। छः वर्ष की आयु में ही दादू पंथी में पारित हो गए। तब से प्राय: उनके साथ रहे। इन्होंने काशी में तीस वर्ष की आयु तक शिक्षा ग्रहण की थी। व्याकरण, वेदांत, पुराण इनके प्रिय विषय थे तथा फारसी का भी इन्हें ज्ञान था। सेखावाटी के नवाब अलिफ खां इनका बहुत सम्मान करते थे। लम्बे-चौड़े व्यक्तित्व के अत्यन्त सुंदर व्यक्ति तो थे ही, स्वभाव के भी अत्यंत सरल एवं मृदु थे। बाल ब्रह्म-चारी तथा स्त्री-समाज से दूर रहने वाले इस संत की भावुक, हृदययुक्त काव्य-कला में ज्ञान के संयोग से संत-काव्य की जो साहित्यिक झांकी मिली, वह हिंदी की संत-काव्यधारा में अपने स्थान पर अनूठी है। देश-देश में घूमने के कारण इनकी अनुभूति की परिधि व्यापक धरातल ग्रहण करती रही। इन्होंने मंजी हुई, सरस प्रौढ़ ब्रज-भाषा में रचना की। इन्होंने संत कवियों की भाँति न केवल पदों की रचनाएँ की हैं, अपितु कवित्त और सवैये भी लिखे हैं। इनके कवित्त और सवैये सरस तो हैं ही,

उनमें यमक, अनुप्रास और अर्थालंकारों की सुंदर योजना भी की गई है। काव्य का विषय—भक्ति, ज्ञानचर्चा, नीति तथा देशाचार है। विभिन्न स्थानों के आचार-व्यवहार पर इन्होंने अनेक विनोदपूर्ण उक्तियाँ भी कही हैं। दार्शनिक विषय तथा तत्त्ववाद आदि को भी इन्होंने काव्य का विषय बनाया। यद्यपि इनके पदों में प्रतिभा-सिद्ध मौलिकता नहीं है तो भी अपनी व्यापकता के कारण संत-साहित्य में इनका मौलिक स्थान है।

सिख गुरु तथा अन्य संत कवि

हिंदी साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से सिख संप्रदाय के प्रवर्तकों का साहित्य भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्रायः सभी सिख गुरुओं ने सुंदर गेय पदों की रचनाएँ कीं और सबसे बड़ी बात यह है कि न केवल इन्होंने अपनी वाणी का सम्मान किया अपितु अपने पूर्ववर्ती संतों का भी सादर सम्मान किया है। सिख संप्रदाय के प्रवर्तक (नानक सं० १५२६-१५६५ से लेकर दसवें गुरु तक) बराबर भक्ति-भजन प्रसारित करते रहे, किंतु सबसे बड़ी बात इनके अन्तिम गुरु गोविंदसिंह द्वारा यह हुई कि उन्होंने अपने ग्रंथ 'गुरु ग्रंथ साहब' का संपादन कर उसे गुरु-गद्दी पर प्रतिष्ठित किया। इसमें प्रायः सभी पूर्ववर्ती संतों के साहित्य को एक जगह एकत्र करने का सुंदर प्रयत्न किया गया था। 'गुरु ग्रंथ साहब' में सभी संतों की वाणियां मिल जाती हैं, यह उनका बहुत बड़ा कार्य था। गुरु गोविंदसिंह कृत 'गोविंद रामायण' साहित्यिक महत्त्व की आदर्श-प्रधान रचना है। ये लोग भी दोहा, साखी, श्लोक तथा गेय पदों में रचनाएं करते थे। सिख गुरुओं में गुरु अंगद (१५५१) गुरु नानक के शिष्य थे। ये तथा अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव, गुरु तेगबहादुर आदि सभी रचनाएं करते थे। अन्य संत कवियों में शेख फरीद, आनन्द घन, मूलकदास, अक्षर अनन्य, गुलाल साहब, गरीबदास, चरणदास आदि का नाम लिया जा सकता है। मीरा की भी गणना कुछ लोग संत साहित्यिकों के रूप में करते हैं, किंतु वास्तव में इन्हें कृष्णभक्त कवयित्री मानना अधिक उचित होगा। निरंजनी सप्रदाय के संत तुलसीदास तथा यारी साहब का भी नाम संत कवियों में आदर के साथ लिया जाता है।

सहजोबाई

इनका जन्म दिल्ली के एक प्रतिष्ठित वणिक वंश में सं० १७४३ में हुआ था। ये चरणदास द्वारा प्रवर्तित चरणदासी संप्रदाय की संत साधिका कवयित्री थीं। इनकी प्राप्त समस्त रचनाओं का संग्रह वेलवेडियर प्रेस से 'सहजो-प्रकाश' नाम से प्रकाशित हुआ। संतों ने जिन विषयों को काव्य का विषय बनाया, वही विषय सहजो के भी हैं। इनके अनेक पद राग-रागिनियों से भी युक्त हैं, जो इनके संगीत-ज्ञान के परिचायक हैं। ये चरणदासी संप्रदाय की प्रमुख प्रचारिका एवं साधिका तो थीं ही, साथ ही संत-मत की सर्वोत्तम प्रमुख कवयित्री भी हैं।

दयाबाई

ये भी चरणदास की शिष्या थीं। इनका जन्म संवत् १७७५ में दिल्ली में हुआ। साथ ही ये चरणदास की सेवा में उन्हीं के मंदिर में रहती भी थीं। इनकी दो रचनाएँ—'दयाबोध' और 'विनय-मालिका' प्राप्त हैं। इनकी रचनाओं में रसमयता अन्य संत कवयित्रियों से अधिक है। वर्ण्य-विषय इनका भी प्रायः वही है जो सहजोबाई का है।

सूफी-काव्य-परम्परा

प्रेमाख्यानक काव्य

देश में हिंदू और मुसलमान जब एक साथ शान्तिपूर्वक रहने लग गए तब दोनों सम्प्रदायों में कुछ ऐसे व्यक्तित्व दिखाई पड़े जिनके हृदय में मानवता के प्रति प्रेम था। हिंदी-भाषियों में भी ऐसे ही विचार वाले अनेक संत कवि हुए जिन्होंने इस बात का अथक प्रयत्न किया कि मानव,

मानव के प्रति अधिक उदार हो, धर्म-सहिष्णु हो, क्योंकि सबके भीतर एक ही खुदा और परमात्मा का वास है। बाह्याडम्बर के भीतर लोग वर्गवाद की सीमा में इस बुरी तरह घिर रहे थे कि मानव, मानव को को भूल रहा था। उनका बोध कराने का प्रयत्न ऐसे संत कवियों ने किया। उनका प्रभाव भी लोगों पर पड़ा। पर उनकी वाणी अटपटी थी, वे अनपढ़ थे, इसलिए सामान्य जनता तो उनसे प्रभावित हुई पर महत्तम साहित्य के निर्माण में उनका विशेष हाथ न हो सका। दूसरी ओर प्रेम की पीर पहचानने वाले उन सूफी कवियों का प्रभाव व्यापक था, जो पढ़े-लिखे थे और जिनकी रचनाओं में व्यापक हृदय की रागात्मक वृत्ति का परिपाक था। यद्यपि ये जन-जीवन को उतना प्रभावित न कर सके, तो भी काव्य की दृष्टि से इनकी महत्ता अत्यंत व्यापक है।

उन्होंने प्रेम-कथानकों पर अवधी भाषा में अनेक प्रबंध काव्य लिखे, साहित्य के भंडार की संवृद्धि की। उन्होंने अपनी कथाओं का आधार लोक में प्रचलित उन काल्पनिक प्रेम-कथाओं को बनाया जो लोगों के बीच में बहुत दिनों से कही और सुनी जाती रही हैं। उन्होंने प्रचलित कथानकों में कल्पना और ऐतिहासिकता का भी पुट दिया। कुछ ने विशुद्ध कल्पना के आधार पर प्रबंध काव्य का भी प्रणयन किया। सभी सूफी कवियों ने प्रेम-कथानकों की इस परम्परा को इस भाँति अपनाया कि उसका बाह्य आकार ऐसा लगता है, कि छंदो के प्रयोग से लेकर कथा की सृष्टि और कथन की प्रणाली में एकरसता है। उन्होंने प्रेम-कथाएं तो भारतीय धरातल से ग्रहण कीं, किंतु उसमें उड़नेवाली नारी—यथा परी, की कल्पना फारसी और यवन संस्कार के आधार पर की। पशु-पक्षियों द्वारा कथानक को गति प्रदान करने का कार्य भारतीय साहित्य-परम्परा से ग्रहण किया गया। प्रायः सभी सूफी रचनाकार अवध में उत्पन्न हुए थे, सभी मुसलमान थे और सभी ने दोहे और चौपाई की वह शैली अपनायी जिसमें बाद में, हिंदी का सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रंथ 'रामचरितमानस' लिखा गया है। पर उन्होंने प्रबंध काव्य की सर्गबद्ध भारतीय पद्धति न ग्रहण कर फारसी की मसनवी शैली को अपने भावों के लिए स्वीकार किया।

सूफी मत के फकीर अपने मत का समर्थन क़ुरान से करते हैं। इनका प्रादुर्भाव मोहम्मद की मृत्यु के दो या तीन सौ वर्ष बाद हुआ। पहले सादा जीवन को ही सूफी सब कुछ समझते थे, किन्तु बाद में चिंतन और मनन के बल पर उनकी यह आस्था हो चली कि जगत् और जीव भी ब्रह्म ही है। उन्होंने तत्वमसि के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। एकेश्वरवाद के समर्थक कट्टर मुसलमानों ने इसे कुफ्र ठहराया। इस कारण इन्हें उनका कोपभाजन भी बनना पड़ा और मंसूर को तो इस उद्भावना के लिए फाँसी पर भी चढ़ना पड़ा। मुसलमानों का ईश्वर निराकार होता था किन्तु सूफ़ियों ने उन्हें कण-कण में व्याप्त देखा। इससे निराकार खुदा की नीरस भावना के भीतर आनंद के एक मनहर भाव की प्रतिष्ठा हुई, जिससे लोगों के भीतर प्रेम की भावना के पल्लवन को आधार मिला।

इस सूफी सम्प्रदाय में भारतीय अद्वैतवाद की एक गहरी और स्पष्ट छाप दीखती है। भारत में सर्वप्रथम सिंध और पंजाब की ओर सूफ़ियों का प्रभाव बढ़ा, इनकी चर्चा भक्तियुग के सामान्य परिचय में की जा चुकी है। जो सूफी फ़क़ीर प्रेम के प्रसार में योग दे रहे थे, उन पर वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा, यथा अहिंसा वृत्ति का ग्रहण, उपनिषदों में वर्णित प्रतिबिम्बवाद (ब्रह्म बिम्ब है, और जगत् प्रतिबिम्ब) का प्रभाव भी इन पर पड़ा, जिसका स्पष्ट आभास जायसी में दिखाई पड़ता है। चार भूतों के स्थान पर भारतीय पंच भूतों के सिद्धांत को इन्होंने अपनाया। कहीं-कहीं योग की बात भी की। इस प्रकार इनके भीतर एक उदार, संग्रही, सत् हृदय का दर्शन होता है। ये अच्छे तत्वों को कहीं से भी ग्रहण करने में हिचकते नहीं दिखाई पड़े, यद्यपि इनका मूल सिद्धान्त है कि ईश्वर हमारा प्रियतम है। वह कण-कण में व्याप्त है। कण-कण में उसकी लीला व्याप्त है। उसके पास तक पहुँचने का साधन लौकिक प्रेम है, जो साधना के बल पर आगे बढ़कर अलौकिक हो उठता है।

हिंदी में रहस्यवाद की चर्चा ज़ोर पर है। कुछ दिन पूर्व तक हिंदी के प्राचीन कवियों में भी रहस्य की भावनाएँ देखी जा रही थीं, किंतु

वास्तव में यदि देखा जाय तो सच्चे रहस्यवादी कवि ये सूफी ही हुए। मानवीय प्रेम के तत्वों से सूफी कवि ऊपर उठकर अन्तर के अज्ञात तत्वों को अभिव्यक्त करने लगे।

सूफी कवियों में सर्वप्रथम अलाउद्दीन के समकालीन मुल्ला दाऊद नामक कवि का नाम लिया जाता है। इनका लिखा 'चन्द्रावत' नामक प्रबन्ध काव्य बताया जाता है। पर उनकी कोई भी कृति अभी तक उपलब्ध नहीं है।

कुतुबन

सूफी सम्प्रदाय के कवि कुतुबन की कृति उपलब्ध है। ये शेरशाह के पिता हुसेनशाह के आश्रित थे। इनके गुरु चिश्ती वंश के शेख बुराहम थे। इनकी रचना 'मृगावती' का उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलता है।

अपने समय में इस रचना का साहित्य में प्रचार था। उनके भीतर चंदरनगर के राजा और कंचनपुर की राजकुमारी मृगावती की प्रेम-कथा वर्णित है। कथा सुंदर कल्पना की भित्ति पर आधृत है। यह ग्रंथ अवधी में मसनवी शैली में विरचित है।

मंझन

मंझन नाम के कवि की 'मधुमालती' नामक रचना खंडित रूप में प्राप्त हुई है।

आचार्य शुक्ल ने इन्हें जायसी का पूर्ववर्ती ठहराया है और सिद्ध किया है कि इनका रचनाकाल मं० १६५० और १६६५ के बीच में है।

दक्षिण के शायर नसरती ने भी संवत् १७०० के लगभग 'मधुमालती' के आधार पर गुलशने-इश्क नामक प्रेमकथा लिखी। 'मधुमालती' 'मृगावती' की अपेक्षा रोचक तो है हां. इसकी कथा का आधार भी व्यापक है। अवधी में वर्णित यह प्रेम-काव्य भी सूफी प्रेम-काव्य-परम्परा में अपना अत्यधिक महत्त्व रखता है।

जायसी

सूफियों द्वारा भारतवर्ष में जिस काव्य का सर्जन हुआ, उनमें मलिक मुहम्मद जायसी की रचनाएँ सर्वोत्तम मानी जाती हैं। मलिक मुहम्मद जायसी अवध के जायस ग्राम के निवासी माने जाते हैं तथा मलिक इनकी पैतृक उपाधि मानी जाती है। 'आखिरी क़लाम' नामक इनकी एक पुस्तक मिली है जिससे उनके जीवन-वृत्त पर कुछ प्रकाश पड़ता है, अपने जन्म के संबंध में उन्होंने लिखा है—

भा अवतार मोर नौ सदी, तीस बरस ऊपर कवि बदी।

इससे ऐसा लगता है कि ये नौ सौ हिजरी में उत्पन्न हुए। यह अत्यंत कुरूप थे। शीतला में इनकी एक आँख जाती रही। इन्होंने अपनी कुरूपता का स्वयं वर्णन किया है और शुक्राचार्य से अपनी तुलना की है। इनकी रचनाओं को पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि अपने धर्म-ग्रंथ-कुरान के प्रति दृढ़ आस्था होते हुए भी इनके भीतर अन्य धर्मों के प्रति घृणा न थी। यह योग, वेदान्त, रसायन, ज्योतिष, दर्शन तथा काव्यकला की ओर विशेष अभिरुचि रखते थे। यद्यपि साधु-संतों के पर्याप्त संपर्क में इनके रहने का भी आभास मिलता है तो भी सूफीमत में इनका दृढ़ विश्वास था। जायसी अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे। इन्हें लोग अत्यंत श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। कहा जाता है कि अन्तिम दिनों में ये अमेठी में रहा करते थे। इनका राज-परिवार में अत्यंत सम्मान था। अमेठी के राजा ने इनकी मृत्यु के बाद मंगरा वन में इनकी समाधि बनवाई, जहाँ पर आज भी इनकी स्मृति में दीप जलाए जाते हैं। जनश्रुति के अनुसार इनकी मृत्यु संवत् १६०० में मानी जाती है। वली नसरुद्दीन हुसैन ने इनका मृत्युकाल स्मृति के आधार पर ६४६ हिजरी माना है। अपने दो गुरुओं का उल्लेख भी उन्होंने किया है, सैयद अशरफ और शेख महीउद्दीन औलिया।

यद्यपि जायसी-रचित ग्रंथों की संख्या लगभग २१ बताई जाती है, तो भी अभी तक इनकी चार कृतियाँ ही प्राप्त हो सकी हैं। इन चारों कृतियों के नाम हैं—पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम और

कहरानामा।

पद्मावत: पद्मावत की रचना ६२७ हिजरी में बतायी जाती है। इसे कुछ लोग ६४७ भी मानते हैं। अलाउल द्वारा पद्मावत का अनुवाद बँगला में किया गया है। किन्तु उसमें रचनाकाल ६२७ ही माना गया है, किन्तु उसमें शेरशाह का भी जिक्र है, जिससे ६४७ तिथि मान लेने पर समय का ऐतिहासिक साम्य मिल जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे प्रेमगाथा की परम्परा की पूर्ण प्रौढ़ रचना माना है। यह प्रबन्ध काव्य फारसी की मसनवी शैली में लिखा गया है, पर भारतीय पद्धति का प्रभाव भी प्राय: दीख पड़ता है। पद्मावत की कथा अलाउद्दीन एवं चित्तौड़ की रानी पद्मिनी को लेकर लिखी गई है। इसमें ऐतिहासिकता के साथ-साथ कल्पना तथा सूफी सिद्धांतों का सुंदर समन्वय है।

संक्षेप में पद्मावत की कथा इस प्रकार है—चित्तौड़ के राणा रत्नसिंह सिंहल की राजकुमारी पद्मावती की अलौकिक सौंदर्य-कथा सुन, संन्यासी के वेश में सिंहल जाते हैं और उसके रूप-माधुर्य पर आसक्त हो उसे चित्तौड़ लाते हैं। तत्कालीन दिल्ली के शासक अलाउद्दीन भी पद्मावती की रूप-माधुरी पर कही गई कथाओं के कारण उसे अपनी बनाने के लिए चित्तौड़ पर आक्रमण करते हैं। चित्तौड़ का पतन होता है और रत्नसिंह बन्दी होते हैं। विश्रुत गोरा और बादल की कथा के ढंग पर पद्मावती राणा को मुक्त कराती है तथा राणा युद्ध में, देवपाल को मार डालते हैं। देवपाल से युद्ध में राणा भी घायल होते हैं और उनकी मृत्यु हो जाती है। इसी समय अलाउद्दीन चित्तौड़ पर अधिकार कर लेता है, किन्तु तब तक राणा की दोनों रानियाँ पद्मावती और नागमती सती हो जाती हैं।

अन्त में जायसी ने पूरी कथा को कल्पना बताया है तथा एक रूपक खड़ा किया है। इस रूपक के कारण कथा रहस्यमय हो गई है। इसमें कवि ने नागमती को संसार, पद्मावती को बुद्धि, अलाउद्दीन को माया, मानव-शरीर को चित्तौड़, आत्मा को रत्नसिंह तथा जिस तोते द्वारा रत्नसिंह पर पद्मावती का रूप-रहस्य प्रकट किया गया था, उसे गुरु

का रूप दिया है। ५७ खण्डों में संपूर्ण कथा कही गयी है।

काव्य-प्रयोगों की शैली की दृष्टि से भी पद्मावत की महत्ता है :

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल, बुधि पद्मिनी चीन्हा ॥
गुरू सुग्रा जेहि पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनिया-धंधा। बाचा सोई न एहि चितबंधा ॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू ॥
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु ॥

अखरावट : इसे लोग पद्मावत के बाद की रचना मानते हैं। जीवन-सम्बन्धी अनेक तत्त्वों से यह काव्य भरा पड़ा है, जिसमें जीव, ईश्वर, सृष्टि और ईश्वर-प्रेम के सम्बन्ध में कवि के विचार संकलित हैं। इसके भीतर दो प्रकार के पद्य हैं। पहले तो वे जिनकी रचना अक्षरों के क्रम से हुई है, दूसरे वे जिनका क्रम अक्षरों से नहीं है।

आखिरी कलाम : ९३६ हिजरी में इस ग्रंथ का प्रणयन माना जाता है, जिसमें ईश्वर-स्तुति, गुरु-स्तुति, मुहम्मद-स्तुति तथा कवि के जीवन-सम्बन्धी अनेक पद प्रौढ़ रचना शैली में लिखे गए हैं।

कहरानामा : आचार्य शुक्ल ने जायसी ग्रंथावली के तीसरे संस्करण में (सं० १९९२) अब तक वर्णित तीनों पुस्तकों का संकलन किया है। सभा की खोज-रिपोर्ट में (सन् १९२६-२८) बिसवा के आनंद-भवन से प्राप्त जायसी का 'कहरानामा' प्राप्त हुआ। इसके और महरी बाईसी के पद एक ही हैं। इस पुस्तक का नाम 'कहरानामा' है।

जायसी का रचनाकाल शेरशाह सूरी का समय माना जाता है। शेरशाह सूरी के समय में हिन्दू-मुसलमानों का सम्पर्क एक-दूसरे से बढ़ा। दोनों ने सहयोग का मूल्य समझा तथा दोनों संप्रदायों में अनेक ऐसे व्यक्ति हुए जिन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के बीच परस्पर सहयोग की भावना बढ़ाई। प्रेम की पीर से प्रभावित सूफी कवियों ने भी इसमें महत्त्वपूर्ण योग दिया। उनकी भाव-पद्धति प्रेम पर आधृत होने के कारण लोगों के हृदय के अत्यन्त निकट थी। ये तो प्रेम के दीवाने थे। इनके यहाँ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। नाथ-सम्प्रदाय के योगियों और साधकों से जनता का जी ऊब चुका था। लोग शान्ति और स्नेह का

जीवन व्यतीत करना चाहते थे। भक्तिमार्ग वाले भी, जिनका जनता पर व्यापक प्रभाव था, प्रेम-तत्त्व के कारण समाज में सामंजस्य की भावना प्रसारित करने में योग दे रहे थे। ऐसी ही परिस्थिति में प्रेम के सन्देश-वाहक इन सूफी कवियों ने अपनी चिंतनधारा द्वारा जन-जीवन को रससिक्त करने का प्रयत्न किया। यद्यपि जायसी के पहले ही अनेक सूफी कवि हो चुके थे तो भी जायसी ने ही साहित्य के क्षेत्र में रस की एक स्नेहपूर्ण मधुर धारा बहाई। जायसी मुसलमान होते हुए भी कट्टर नहीं थे। उन्होंने साधु और संत का समागम किया था। उन्होंने संसार देखा और समझा था। जीवन के मर्म का अनुभव किया था और थे भी वह सच्चे सूफी। शास्त्र-सम्मत सूफी-सिद्धान्तों को माननेवाले थे। अशास्त्रीय सूफी-मत से उनका नाता नहीं था। वह बाशरा थे, बेशरा नहीं। वह एकेश्वरवादी होते हुए भी अद्वैतवादियों की तरह आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं मानते थे। वह 'अनलहक' वाली विचारधारा के साथ-ही-साथ अद्वैतवाद के 'अहं ब्रह्मास्मि' के सिद्धान्त में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति थे। उनके ऊपर वेदान्त का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। वह जगत् को ब्रह्म से पृथक सत्ता को छाया मात्र मानते हैं। इनकी रचनाओं में वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद का भी आभास मिलता है। कहीं-कहीं इनकी रचनाओं में भारतीय आर्य-ग्रंथों का भी प्रभाव दीखता है। हिंदू और मुसलमान—दोनों की भावनाओं का मेल कराते हुए प्रतिष्ठित हैं। नूर के साथ-ही-साथ सप्तद्वीप और नवखण्ड को भी यह नहीं भूलते।

जायसी के ऊपर लोकजीवन में व्याप्त चिंतनों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। साहित्य के क्षेत्र में उनकी देन मौलिक है। वे तो फकीर थे, ऐसे जो अपने प्रम की पीर मिटाने के लिये अपने माशूक ईश्वर को ढूंढा करते थे। वह कबीर की भाँति खण्डन-मण्डन करने वाले व्यक्ति नहीं थे। वह तो केवल निर्माण करना जानते थे, इसलिये वेद हो या क़ुरान, सबकी अच्छाइयों के वह पूजक थे।

वह सूफी थे। सूफी-मत में एकेश्वरवाद का निर्गुण रूप गृहीत है। उनका यह निर्गुण ईश्वर, अलौकिक सौंदर्य, अनन्त गुणों और महान

शक्ति से पूर्ण है। सारा संसार ईश्वर की सत्ता का उदबोध करता है और उसका सार है प्रेम। सृष्टि के पहले परमात्मा स्वयं से प्रेम करता था, किंतु अपने सौंदर्य को देखने के लिये उसने एक छाया उत्पन्न की जो आदम है। आदम प्रेम के अवतार हैं। उनका ही सौंदर्य उसके द्वारा रचित संसार में व्याप्त है और लोक की प्रेम-साधना अपने पथ पर बढ़ अलौकिक हो जाती है। ईश्वर की सौंदर्य-सत्ता के किसी अंश से प्रेम करने मात्र से उसकी अंतिम सीमा पर ईश्वर की प्राप्ति, इनके मत के अनुसार होती है। इनका मार्ग लोक से परलोक की ओर जानेवाला है। सूफियों ने लौकिकता की ओर मोड़ने में महती सहायता लोक की की है और जायसी इसी समन्वित परम्परा के, जो भारतीय अभिमतों और लोक-जीवन से प्रभावित है, उद्घाटक तथा अत्यन्त समर्थ, हिंदी के फकीर साहित्यकार थे।

जायसी का रहस्यवाद : कवि की रचनाओं में रहस्यवाद का दर्शन होता है। यह रहस्य-भावना उनकी रचना में अधिक रसमय होकर उतरी है। प्रकृति, प्रियतम ईश्वर के सौंदर्य की छाया है। जब कवि के मानस का स्नेह-स्पन्दन, प्रकृति के सौंदर्य में प्रियतम के रूप की अभिव्यक्ति पाता है और भाव्य द्वारा उस आह्लाद को अभिव्यक्त करने चलता है तो हृदय की यह रहस्य-भावना रहस्यवादी भावनाओं की अभिव्यक्ति करने लगती है। प्रकृति के भीतर प्रियतम का दर्शन जब कवि करता है और उस छिपे रहस्य के उद्घाटन में उनकी वाणी मुखरित होती हैं तो ऐसे रहस्यवादी काव्य का उद्भव होता है जिसका सम्बन्ध हृदय की रागात्मक वृत्ति से है, न कि कबीर की भाँति हठयोगी पद्धति-वाले नाद-बिन्दु से। उनको न केवल प्रियतम का प्रकृति में स्पन्दन दिखाई पड़ता है अपितु उनका रागात्मक सम्बन्ध भी प्रकृति से स्थापित हो जाता है। कवि अपने हृदय का स्पन्दन भी प्रकृति में देखता है। प्रकृति की इस व्यापक लीला का, मानस के मनोभावों पर पड़े प्रभाव का काव्य की रसमयी धारा के रूप में निर्माण करता है और जायसी इस रचना-क्रिया में अत्यंत सफल रहे।

जायसी ने न केवल प्रकृति को आधार बनाया, अपितु उनकी

रचनाओं में व्यापक लोक-निरीक्षण भी मिलता है। सामान्य जीवन के भीतर उनकी इतनी अधिक पहुँच है, जितनी संभवतः किसी भी प्रेममार्गी कवि की नहीं। उन्होंने जहाँ भी जिस किसी का वर्णन किया है, उसमें व्यापक और सूक्ष्म निरीक्षण तो है ही, साथ ही उसकी विशदता से कहीं अध्येता का मन भी ऊबता नहीं, अपितु वह काव्य-रस में डूबता ही चला जाता है। साथ ही इस बात का वे सर्वत्र ध्यान रखते हैं कि सूफी साधना का जो रूपक उन्होंने कथा को आधार बनाकर रचा उसके वर्णन में कहीं कोई चूक न हो। रत्नसेन का जहाँ कहीं भी वर्णन हुआ है, वह एक महान साधक के रूप में है। पद्मावती का सौंदर्य सर्वत्र दीप्त-सुषमा पर छाया रहता है। उसके केश के बादल से सारी धरती पर मेघ छा जाते हैं। उसकी छाया पड़ने पर समस्त संसार सौंदर्य से दीप्त हो उठता है। इसका पूर्ण निर्वाह करने में कवि सर्वत्र सफल हुआ है। यह उसकी अपनी विशेषता है। नागमती-विरह खण्ड के वर्णन में कवि की सफलता चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई है। इतनी सुन्दर विरह-व्यंजना हिंदी के किसी भी प्रबन्ध काव्य में नहीं दिखाई पड़ती है। हिन्दू पतिव्रता पत्नी का इतना पवित्र सम्मोहक वर्णन इस मुसलमान कवि ने जिस कौशल के साथ किया है उसके शान का वर्णन हिंदी में सम्भवतः दूसरा नहीं।

पिउ सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धन बिरहै जर मुई, तेहि क धुवां हम लाग॥
वह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग झुकि परै, कन्त धरे जहँ पाव॥

प्रकृति का सजीव चित्रण, षट्-ऋतु वर्णन, सूक्ष्म-निरीक्षण, सामान्य जीवन-प्रवेश आदि कवि की रचना की विशेषता हैं।

जायसी ने भी काव्य को उसी मसनवी शैली को अपनाया है जिसे सूफी पूर्ववर्ती कवियों ने। दोहे, चौपाइयों में कवि ने पूरा काव्य रचा है। कवि की भाषा ठेठ अवधी है, पर है मिठास से भरी हुई। अलंकार और अनुप्रास का भी अति उत्तम विधान करने में कवि सफल रहा है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा कवि को विशेष प्रिय हैं तथा उसमें वह अत्यंत

सफल भी रहा है। सूफी-काव्य-परम्परा का यह कवि हिन्दी-साहित्य की वह निधि है जिस पर हिंदी को सदैव गर्व रहेगा।

उस्मान

तुलसीदास के बाद सूफी काव्यधारा का प्रभाव दिनोत्तर क्षीण होता गया। जहाँगीर के समय इस परम्परा में गाजीपुर के उस्मान कवि हुए। ये निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य-परम्परा में, हाजी बाबा के शिष्य थे तथा संवत् १६७० में 'चित्रावली' नामक काव्य की रचना की।

शेख नबी (सं० १६७६)

इन्होंने 'ज्ञानदीप' नामक एक आख्यान काव्य लिखा जिसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवयानी की कथा लिखी गई है। शेख नबी के पश्चात् सूफी काव्य की परम्परा अत्यन्त क्षीण हो गई।

कासिम शाह

संवत् १७८८ के लगभग वर्तमान थे। इन्होंने 'हंस-जवाहिर' नाम की कथा लिखी। उनकी कविता में काव्य का उच्च धरातल नहीं है।

नूर मुहम्मद

ये कासिम शाह के समकालीन थे तथा जौनपुर के रहने वाले थे। इनकी वंश-परम्परा में अब भी लोग वर्तमान हैं। इन्होंने संवत् १८०१ में 'इन्द्रावती' नामक एक आख्यान काव्य लिखा। हिंदी की इनकी एक और रचना का पता चला है जो 'अनुराग बाँसुरी' के नाम से मिली है। अन्य सूफियों की अपेक्षा इनकी रचनाओं में दो विशेषताएँ हैं। पहली तो यह कि इनकी भाषा अधिक संस्कृत-गर्भित है और इनमें उर्दू-आंदोलन का एक संकेत मिलता है। 'अनुराग-बाँसुरी' तत्त्वज्ञान संबंधी पूर्ण अध्यवसित रूपक काव्य है।

रामभक्ति-साहित्य

इस्लाम-सभ्यता के प्रथम विकास में जिन भावनाओं की अभिव्यक्ति की गई उन पर इस्लामी वातावरण का प्रभाव था। यह प्रभाव कथाओं

के ढाँचे में सूफियों पर पड़ा हो, चाहे सन्तों पर, मत द्वारा पड़ा हो, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन पर भी इसका प्रभाव पड़ ही चुका था। पर ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होने लगा, त्यों-त्यों भारतीय जन-मन को इस्लाम की शुष्कता का बोध होने लगा। भारत में उत्पन्न हुई, पली, पनपी भावधारा की ओर समाज के कर्णधारों का ध्यान आकृष्ट हुआ। तत्कालीन मुसलमान शासकों की उदार नीति के कारण महात्माओं को नवीन मार्ग के प्रवर्तन में सहायता मिली। उत्तरी भारत में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य महात्मा रामानन्द ने किया। मृतप्राय हिन्दू भावना को उन्होंने समय के अनुकूल प्राचीन धर्म में नवीन मनोभावों की प्रतिष्ठा का अमृतपान कराया। समाज को जीवन की नई दिशा दी। चेतनामय नवीनयुग का श्रीगणेश किया।

रामानन्द

इस युग में रामानन्द जैसा महान कोई भी गुरु नहीं दीखता। उत्तरी भारत के जन-जीवन में राम की प्रतिष्ठा करके उन्होंने भारतीय समाज की जो सेवा की है इतिहास के पृष्ठों में उसकी तुलना नहीं। रामानन्द ने अपने सम्प्रदाय का प्रवर्तन विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किया। इसके पूर्व ही नामदेव, त्रिलोचन आदि रामभक्ति के प्रसारक महात्मा हो चुके थे। रामानन्द ने इस भक्ति-परम्परा को नया आलोक दिया।

स्वामी रामानुजाचार्य ने सं० १०७३ में भक्ति के प्रसार के लिए वैष्णव श्री सम्पदाय की स्थापना की। श्री शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैतवाद में भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था। ऐसी परिस्थिति में जन-जीवन में इस वृत्ति की प्रतिष्ठा, जिसका प्रवर्तन रामानुजाचार्य ने किया, अत्यन्त समीचीन थी। इनका मत विशिष्टाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सम्प्रदाय में तेरहवीं पीढ़ी के बाद इस सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य स्वामी श्रीराघवानन्द काशी में रहते थे। उन्हीं के परम समर्थ शिष्य थे रामानन्द जी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्थूल रूप से उनका समय विक्रम की पन्द्रहवीं शती के चतुर्थ और सोलहवीं शती के तृतीय चरण के भीतर माना है। यद्यपि रामानन्द जी रामानुजाचार्य के मतावलम्बी थे, तो भी इन्होंने युग के अनुरूप उसका सांसारिक रूप ग्रहण किया। इसके संस्कारकर्त्ता भी वे स्वयं बने। इन्होंने विष्णु के स्थान पर लोक-लीला-विस्तारक राम को अपना इष्ट बनाया और राम नाम इनकी साधना का मूल मन्त्र हुआ।

सभी प्रकार का भेद-भाव तोड़कर इन्होंने हिन्दू-मुसलमान, नीच-ऊँच, यहाँ तक कि महिलाओं को भी अपना शिष्य बनाया, जिन्होंने युग-विधायक कार्य सम्पन्न किए। इनके प्रसिद्ध शिष्यों का नाम भक्तमाल के अनुसार यों है: अनन्तानन्द, सखानन्द, सुरसानन्द, नरहर्यानन्द, भावानन्द, दीपा, कबीर, सेन, धन्ना, रैदास, पद्मावती और सुरसुरा। रामानुज संप्रदाय में दीक्षा पाने की अधिकारिणी द्विजाति मात्र थी, पर उपर्युक्त सूची इस बात का प्रमाण है कि सभी वर्गों के लिए सम्प्रदाय में दीक्षा का द्वार श्री रामानन्द ने खोल दिया।

रामानन्द भी संस्कृत में ग्रंथ-रचना करते थे। अभी तक केवल उनके दो ग्रंथ मात्र, 'वैष्णवमतभास्कर' और 'रामार्चन-पद्धति' मिले हैं, जो प्रामाणिक हैं। लोकभाषा में समय-समय पर आपने विनय के पदों की भी रचना की है। अभी तक आपके कुछ पद मिले हैं, जिनमें राम-भक्त हनुमान की स्तुति भी है, जो आज तक हनुमान-भक्तों का कण्ठ-हार है।

महाकवि तुलसीदास

यद्यपि रामानन्दी सम्प्रदाय के भक्तगण लोक में पुरुषोत्तम राम की प्रतिष्ठा में दत्तचित्त हो लगे थे, तो भी तुलसीदास के पूर्व तक इतनी बड़ी किसी प्रतिभा का दर्शन इस सम्प्रदाय में नहीं हुआ, जो रामानन्द द्वारा प्रशस्त मार्ग को जन-मन के हृदय पर अंकित कर सके। यह महत्तम कार्य तुलसीदास ने किया और इस भाँति किया कि इनकी सामर्थ्य का

दूसरा व्यक्तित्व इनके बाद आज तक हुआ ही नहीं। तुलसी ने दशरथ के सुत राम को लोक में अमर बनाया। जब तक हिन्दी-साहित्य रहेगा तब तक तुलसी के राम रहेंगे। इनकी महत्ता का परिचय इसी बात से लग सकता है, कि विश्व में तुलसीदास के नाम से जितने लोग परिचित हैं, सम्भवतः अन्य किसी साहित्यकार के नाम से नहीं। अपढ़ लोग जहाँ 'रामचरितमानस' की चौपाइयों को ब्रह्मवाक्य समझते हैं, वहीं महान साहित्य-मर्मज्ञ उनके काव्य-लोक की व्यापक प्रशस्ति में शब्द नहीं पाते। विश्व की अन्य भाषाओं में तुलसीदास के मानस का जिस स्तर पर अनुवाद सम्मानित हुआ, हिंदी की किसी भी अन्य कृति का नहीं। विदेशी विद्वान् भी इन्हें अप्रतिम मानते हैं। ग्रियर्सन इन्हें भारत में बुद्ध की पश्चात् सबसे बड़ा लोकनायक तथा स्मिथ ने मुग़ल काल का महानतम व्यक्ति बताया है। इंग्लैंड में शेक्सपियर और बाइबिल दोनों का जो मूल्य है, वही हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र में तुलसी-साहित्य का है।

तुलसीदास अत्यन्त विनय-सम्पन्न सदाचारी भक्त थे। उन्होंने अपने विषय में स्वयं जो कुछ कहीं-कहीं कहा है, उसके उनके जीवन-वृत्त की स्पष्ट रूपरेखा ज्ञात करना सम्भव नहीं।

विगत कुछ वर्षों में तुलसीदास के जीवन-वृत्त पर जो नई खोज हुई है, वह पुरानी खोजों से सर्वथा विपरीत है; पर सर्वमान्य कोई भी नहीं।

शिवसिंह, तुलसीदास का जन्म सं० १५८३ मानते हैं। उन्होंने वेणीमाधव-कृत 'मूल-गोसाईं चरित' देखने की बात भी लिखी है। किन्तु प्रकाशित 'मूल गोसाईं-चरित' में, जिसकी प्रामाणिकता अत्यंत संदिग्ध है, जन्मतिथि सं० १५५४ है। महात्मा रघुवरदास-रचित तुलसी-चरित में, जिसकी सूचना हिन्दी-जगत् को इंद्रदेव नारायण ने 'मर्यादा' द्वारा दी थी, उनका जन्म १५५४ माना गया है। डॉ० ग्रियर्सन तुलसीदास का जन्म सं० १५८९ मानते हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त भी ग्रियर्सन के मत के समर्थक हैं। पं० रामगुलाम दूबे भी यही संवत् प्रामाणिक मानते हैं। बहुत समय तक यह बात सर्वमान्य थी कि पराशर गोत्र के ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे तथा बाँदा जिलांतर्गत राजापुर के पं० आत्माराम दूबे के पुत्र

थे। इनकी माता का नाम हुलसी था।

कहा जाता है कि मूल-नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था और बचपन में इन्हें दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। बाल्यावस्था इनकी ऐसी भयंकर परिस्थितियों में होकर गुजरी कि इन्हें पेट भरने के लिए लोगों से भिक्षा माँगनी पड़ी।

इसके पश्चात् इन्हें बाबा नरहरि का संरक्षण प्राप्त हुआ। नरहर्यानंद, रामानंद की परंपरा में माने जाते हैं और अयोध्या के संप्रदायों की परंपरा में तुलसीदास आते हैं। यह भी अनुमान लगाया जाता है कि इन्हीं नरहरिदास से शूकर क्षेत्र में तुलसीदास ने राम-कथा सुनी थी और इनके द्वारा ही रामभक्ति के प्रति आस्था का भाव तुलसी में जाग्रत हुआ था।

स्थान-स्थान पर इन्होंने जो वर्णन किया है, उससे ऐसा विदित होता है कि स्त्री-संपर्क में वे रहे और शादी आदि के संबंध में उनका सूक्ष्म निरीक्षण उनके साहित्य में व्याप्त है। जनश्रुति के अनुसार उनकी शादी रत्नावली से हुई थी। पत्नी के प्रेम-पाश में वह इस तरह आबद्ध थे कि क्षणभर के लिए भी अपनी आँखों से उन्हें ओझल होने देना नहीं चाहते थे। कहा जाता है कि एक बार वह नैहर चली गईं। भयंकर कष्टों का सामना करते हुए तत्काल वह वहाँ पहुँचे। उनकी स्त्री ने इस कामुकतापूर्ण भावना की तीव्र भर्त्सना की।

प्रिया द्वारा मिली फटकार विराग में परिवर्तित हो गई। माया-जन्य चंचलता की क्षमता उन्हें ज्ञात हुई और उसके बाद अविलम्ब काशी चले आए।

नारी द्वारा लगी ठेस ने जिस भक्ति का प्लावन तुलसी के मानस में किया वह भक्ति-भावना दिनोत्तर विकास के असीम पथ पर बढ़ती गई। इसके पश्चात् नाना तीर्थों का परिभ्रमण उन्होंने किया। काशी, चित्रकूट और अयोध्या से उनकी ममता हो गई। ये स्थान उन्हें अत्यंत प्रिय भी थे। इनका अधिकांश जीवन काशी में व्यतीत हुआ। और चित्र-कूट तो उनकी दृष्टि में राम से सच्चा स्नेह-प्रदाता ही है।

अयोध्या में तो उन्होंने हिंदी साहित्य के अमर रत्न 'रामचरितमानस'

की रचना ही की। 'अरण्य काण्ड' तक ही मानस काशी के बाहर रची गई ऐसी स्वर्गीय रामदास गौड़ की मान्यता है।

कहा जाता है कि पहले ये प्रह्लाद-घाट पर रहते थे। 'विनय-पत्रिका' की रचना इन्होंने गोपाल मंदिर के पिछवाड़े एक छोटे कमरे में की। वहाँ एक पट्ट लगा हुआ है। लेकिन बाद में इन्हें इस स्थान को छोड़ना पड़ा और असी पर रहना पड़ा।

जिस व्यक्ति ने जीवनभर अभाव से संघर्ष कर विश्व की फूटी आँखों में ज्योतिदान करने का सफल प्रयत्न किया उसकी परीक्षा लेने अंतिम दिनों में रोग आदि आए। तुलसी ने उनसे भी संघर्ष किया, अपनी भक्ति के सहारे। उन्होंने किसी वैद्य की नहीं, राम, शंकर और हनुमान की आराधना की, उसकी निवृत्ति के लिए। उदरशूल, बाहू-शूल आदि से तो वे जर्जर हो ही गए थे, प्लेग का भी उन्हें शिकार होना पड़ा। इस जर्जर परिस्थिति में अधिक दिनों जीवित रहना संभव न था और सं० १६८० में उनका देहावसान काशी में हो गया। इस संबंध में यह दोहा प्रसिद्ध है :

संवत सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर॥

तुलसी-साहित्य : यद्यपि काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के खोज-विभाग की रिपोर्ट द्वारा उनकी ३७ रचनाएँ प्राप्त हुई हैं तो भी नागरी-प्रचारिणी सभा ने केवल १२ ही ग्रंथ उनमें से प्रामाणिक माने। उनके प्रामाणिक ग्रंथों के नाम निम्नलिखित हैं :

१. रामचरित मानस, २. वैराग्य-संदीपनी, ३. रामललानहछू, ४. बरवैरामायण, ५. पार्वतीमंगल, ६. जानकीमंगल, ७. रामाज्ञाप्रश्न, ८. दोहावली, ६. कवितावली, १०. गीतावली, ११. श्रीकृष्णगीतावली, १२. विनयपत्रिका।

रामचरितमानस—सभी दृष्टियों से सर्वोत्तम इस प्रबंध काव्य का प्रणयन सं० १६३१ में अयोध्या में आरंभ हुआ। कवि ने स्वयं लिखा है :

संवत सोरह सै इकतीसा, करौं कथा हरि पद धर सीसा।

तुलसी का व्यक्तित्व : तुलसीदास के प्रादुर्भाव के समय का समाज सभी दृष्टियों से संक्रमणकालीन था। सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से सामान्य लोगों का जीवन विपन्न था। ऐसे लोग तत्कालीन समाज में सामाजिक दृष्टि से उन्नत समझे जाते थे, जो विलासिता के गर्त में गोते लगा रहे थे। मध्यकालीन मानव अत्यंत धर्मभीरु होता था। उसे धर्म पर इतनी आस्था होती थी कि वह उसे जीवन की सबसे बड़ी संपत्ति समझता था।

ऐसी ही परिस्थितियों में तुलसीदास का आविर्भाव हुआ। तुलसी ने जगत् देखा था, जीवन देखा था। उनके पैरों में बेवाय फटी थी, लोक में व्याप्त पीड़ा का उन्हें अनुभव था, उसके प्रति उनमें सहानुभूति थी, उसका उन्हें कष्ट था। वे जहाँ एक ओर समस्त जग को सियाराममय जानकर पूजा करने वाले व्यक्ति थे वहीं प्रेम में चातक की भाँति निष्ठा भी उनमें थी, ऐसी निष्ठा जो सदैव सिर हथेली पर रखकर चलती है। उन्होंने समाज को देखा और समझा था, बाहर से नहीं उसके भीतर रहकर। उनके भीतर निर्माण की मेधावी प्रतिभा थी। नाना शास्त्रों और पुराणों का तथा भाषा के प्राकृत ग्रंथों का उन्होंने अध्ययन, मनन एवं चिंतन तो किया ही था, भुक्तभोगी होने के कारण वे समाज के लिये 'सुंदर' का तत्त्व भी समझते थे। वह रूप की माया से भी परिचित थे। इन सबका प्रभाव उनके मेधावी प्रतिभा-सम्पन्न जीवन में एक नई चेतना लेकर आया। ऐसी चेतना की लहर जागी जिससे समन्वयग्राही इतना बड़ा तत्त्व प्रस्फुटित हुआ जितना विश्व के इतिहास में ढूंढे भी नहीं मिलता। निर्गुण और सगुण में भेद न मानकर भी उन्होंने लोक की आवश्यकता का अनुभव कर ऐसे राम की प्रतिष्ठा जन-जीवन में की जो युग के राक्षसों को ही नहीं, दशानन रावण को भी पदलुंठित कर सकने की सामर्थ्य रखता है। जो सुंदरता में अपना सानी न रखने पर भी आपदा आने पर उपकार के लिये अपना कुसुम-सा हृदय वज्र बना सकता है। वे कबीर और सूर के एकांगी मार्ग की पूर्णता बनकर आए। समाज को राक्षसों से बचाने के लिये उन्होंने वानरी वृत्ति तक के लोगों के भीतर उनकी सोयी शक्ति का उद्बोध कराया। वे पंडित और विद्वान थे, इसलिये तथाकथित पंडितों

को भी उन्होंने अपनी अप्रतिम समन्वयवादी प्रतिभा से चकित कर दिया। तुलसीदास में निर्माण की अभूतपूर्व क्षमता थी। तत्कालीन सामाजिक ढाँचे को, जो जर्जरावस्था में था, उन्होंने संजीवनी बूटी पिलाई। वे निर्माण में विश्वास रखने वाले अत्यन्त मर्यादावादी जीव थे। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म का पुन: उज्ज्वल रूप सामने रखा। वैसी वैज्ञानिक-सामाजिक प्रणाली का आज तक उन्नयन विश्व में नहीं हुआ। जीवन को विनष्ट करनेवाली प्रवृत्तियों से उन्होंने संघर्ष किया था। वे इन्द्रियजित भी थे। उन्होंने लोक में व्याप्त माया, काम, क्रोध के विनाशकारी प्रभाव की भर्त्सना की। रामराज्य की उनकी कल्पना आज के युग में भी सामाजिक चेतना का प्रतीक है। उन्होंने लोक में आदर्श नारी की प्रतिष्ठा भी की। उन्होंने रामानन्दी सम्प्रदाय का अनुगमन नहीं किया, उसको एक नया रूप दिया। उन्होंने नवीन जीवनदर्शन दिया, दृष्टिकोण दिया, नई चेतना जगाई। पर सभी कुछ साहित्यकार की भाँति किया, मतवादी प्रचारक की तरह नहीं।

लोक-कल्याण करके भी व्यक्ति अगम कल्याण की महत्तम साधना कर सकता है, तुलसी इस बात के प्रतीक हैं। उन्होंने आत्म-कल्याण की साधना केवल अपने तक ही सीमित नहीं रखी, संसार को उन्होंने उस पथ का पता भी बताया, उस पर चलने की प्ररणा भी दी। वे असज्जनों की वंदना भी करके कभी उनके सामने झुके नहीं। इतने विशाल व्यक्तित्व वाले जनकल्याणकारी, आत्म-द्रष्टा, क्रांतदर्शी तथा समन्वयवादी कवि का उस युग में प्रादुर्भाव न केवल भारत के लिए गौरव की बात है अपितु समस्त मानव-समाज के लिए आदर्श प्रेरणादायिनी संपत्ति है।

साहित्य-सौंदर्य : तुलसीदास वर्णाश्रम-व्यवस्था की प्रतिष्ठा में विश्वास रखने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा में अपने साहित्य द्वारा अभूतपूर्व योग दिया। भारतीय जीवन की सर्वाधिक दृढ़ भित्ति पारिवारिक जीवन है। पारिवारिक जीवन की ऐसी आदर्श प्रतिष्ठा तुलसीदास ने की कि हिंदी का अन्य कोई साहित्यकार नहीं कर सका। पारिवारिक जीवन की आदर्श प्रतिष्ठा ही रामराज्य के मूल में है। उन्होंने लोगों को दिखाया कि जरा भी पारिवारिक मर्यादा में विकृति आने पर

सारा-का-सारा घर कलह, दुःख और अशांति का अखाड़ा बन सकता है। लोक में व्याप्त सारी मर्यादा विनष्ट हो सकती है।

जहाँ उन्होंने शील, शक्ति और सौंदर्य के आगार मर्यादा पुरुषोत्तम लोक-रक्षक राम की कल्पना की है, वहीं भरत और लक्ष्मण जैसे आज्ञाकारी सच्चरित्र भाइयों की भी कल्पना की है, सीता-जैसी सात्त्विक सहचरी की कल्पना भी उन्होंने नहीं छोड़ी है। राम की पूर्णता इन लोगों के अभाव में अपूर्ण रह जाती। रावण के साथ ही साथ उन्होंने मंदोदरी जैसी भारतीय नारी का चित्र भी उपस्थित किया है। शूर्पणखा की कल्पना को भी वे नहीं छोड़ सके हैं। हनुमान जैसे लोकसेवक भक्त को भी वे भुला नहीं पाए है। इस भाँति इतने विविध किंतु पूर्ण अन्योन्याश्रित चरित्रों का चित्रण उन्होंने रामायण में किया है, जितने चरित्र एक साथ हिंदी के किसी भी ग्रंथ में दिखाई नहीं पड़ते। अन्यत्र भी यदि कहीं दिखाई पड़ेंगे तो इस अन्योन्याश्रित आदर्श प्रतिष्ठा के साथ नहीं। यह कवि की अप्रतिम विशेषता है।

राजनीति से लेकर वेदांत-दर्शन तक उनकी रचनाओं में आया है और सब क्षेत्रों में उनकी नई सूझ-बूझ अपनी एक मौलिक छाप देती है, पर सर्वत्र मर्यादित रूप में। उनके सभी पात्र मर्यादा से अनुप्राणित होकर चलते हैं।

राम का रूप भी सीता कंगन के नग की परछाईं में ही निहारती हैं।

यद्यपि सूर की भाँति बाल-सौंदर्य का उतना सूक्ष्म निरीक्षण उनमें नहीं, पर जो कुछ लिखा है वह अत्यंत गौरवशाली है।

उनके साहित्य में सभी रस आये हैं। सबका परिपाक हुआ है। यद्यपि वे भक्ति के ही उपासक थे, पर वीर, शृंगार, हास्य, सभी कुछ उनकी रचनाओं में अत्यंत उच्च कोटि का मिलता है।

उनके विनय के पद तो इतने सुंदर बन पड़े हैं कि ऐसा आभास होता है कि पाठक के हृदय की बात उन रचनाओं में फूट पड़ी है। उनमें हृदय की व्यापक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है।

तब तक प्रचलित काव्य-पद्धतियों एवं रचना-विधानों में उन्होंने अपनी रचनाएँ की हैं और इतना व्यापक समन्वय इस क्षेत्र में भी किया है

कि जितना व्यापक किसी भी रचनाकार के साहित्य में दिखाई नहीं पड़ता।

नीति-उपदेश की सूक्ति पद्धति, सूफियों की दोहा-चौपाई, वीर शृंगार की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीत पद्धति, गंग आदि चारण कवियों की कवित्त सवैया पद्धति—सभी का निखार उनकी रचनाओं में मिलता है। वे विद्वान और पंडित तो थे ही, संस्कृत के भी कवि थे। उन्होंने संस्कृत में भी इतस्ततः रचना की है। उन्होंने अवधी और ब्रज दोनों में रचनाएँ की हैं और उनका संस्कृत-साहित्यिक रूप ही इनकी रचनाओं में मिलता है। भाषा के निखार की दृष्टि से भी उनकी देन हिंदी के लिए अत्यंत मूल्यवान है। कहीं-कहीं फारसी के शब्द भी उनकी रचनाओं मे आ गए हैं।

यद्यपि वे सभी विचारों के सारग्राही समन्वयवादी भक्त कवि हैं, पर उन्हें सियारामसय भक्ति का रूप ही ग्राह्य था और उससे ही लोकमंगल की सिद्धि उनके काव्य का सर्वत्र विषय है।

अन्य रामभक्त कवि

प्राणचंद ने संवत् १६६७ में तथा हृदयराम ने संवत् १६८० में क्रमशः रामायण महानाटक तथा हिंदी हनुमन्नाटक की रचना की। ये दोनों रचनाएँ कहने-भर को ही नाटक हैं। इनमें कथनोपकथन की शैली मात्र है। संवत् १६६६ में रामल्ल पाण्डे ने 'हनुमत-चरित्र' नाम के ग्रंथ की रचना की। तुलसीदास ने भक्त हनुमान की वंदना के लिए पहले से ही रास्ता खोल दिया था।

अग्रदास : नाभादासजी के गुरु स्वामी अग्रदास भक्तमाल के रचयिता थे। ये रामानंद जी के शिष्य अनंतानंद के शिष्य थे। श्रीकृष्णदास पैहारी ने गलता के नागपंथियों के मठ पर अपनी विद्वत्ता के बल पर अधिकार पाया था। यह उन्हीं के साथ रहा करते थे और रामभक्ति की रचना किया करते थे।

नाभादास : नाभादासजी अग्रदास के शिष्य तथा भक्तमाल के रचयिता थे। कहा जाता है कि तुलसीदास से इनकी भेंट हुई थी। ये उनके सम-सामयिक थे। इनका जीवन-काल लगभग संवत् १६०० से १६८० तक है। कुछ लोग इन्हें हरिजन और कुछ लोग जाति का क्षत्रिय मानते हैं। इन्होंने व्यापक दृष्टि से अपने समय के तथा पूर्ववर्ती २०० भक्तों के चमत्कारपूर्ण चरित्र ३१६ छप्पयों में लिखे हैं। नाभादास जी ने इस ग्रंथ का प्रणयन अत्यंत सूक्ष्म एवं संतुलित दृष्टि से किया है। यह भक्तों एवं हिंदी के आचार्यों के बीच बड़ी श्रद्धा के साथ देखा जाता है। इन्होंने ब्रजभाषा के पदों में राम की गुणगाथा गायी है। इनके पदों का संग्रह भी हाल ही में लोगों को प्राप्त हुआ है। एक ब्रजभाषा के गद्य में है, दूसरा 'रामचरितमानस' की शैली पर है।

नारियों ने भी रामभक्ति के साहित्य में योग दिया, पर उनकी संख्या अत्यंत परिमित है तथा उनका साहित्य विशेष महत्त्व का नहीं। नारियों में (सोलहवीं शताब्दी) प्रतापकुँवरबाई और हुतद्दराम का नाम संभवतः लिया जा सकता है।

कृष्णभक्ति-साहित्य

'यदा यदा हि धर्मस्य' के सिद्धांत के अनुसार अवतार की कल्पना 'गीता' में ही की जा चुकी थी। राम को आदिकवि वाल्मीकि ने विष्णु का अंश-अवतार स्वीकार कर लिया था। कृष्ण की भी अवतारणा 'गीता' के समय में हुई और भागवतपुराण ने इसे दृढ़ता प्रदान की। साहित्य के क्षेत्र में कृष्णलीला का गान गेय पदों में होने का अनुमान इस आधार पर लगाया जा सकता है कि क्षेमेंद्र तथा जयदेव ने 'गीत-गोविंद' की संगीतमय रचना संस्कृत में की। ग्यारहवीं शती की क्षेमेंद्र की रचना से भी इसका आभास लगता है। कृष्णलीला के पदों की यह परंपरा हिंदी में विद्यापति में सर्वप्रथम दिखाई पड़ी। बंगाल में चंडीदास ने उनकी लीला गायी। इस भाँति समस्त उत्तरी भारत में कश्मीर से लेकर बंगाल तक कृष्ण काव्य के नायक के रूप में गृहीत दिखाई पड़ते हैं।

वल्लभाचार्य सं० १५२९ या १५३५ में तैलंग ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया था तथा उसमें लोक के अनुरूप मत का अन्वेषण किया था। कृष्ण की भूमि मथुरा और वृन्दाबन में पर्याप्त समय तक रहने के पश्चात् काशी में उन्होंने अनेक संस्कृत-ग्रंथों का प्रणयन भी किया था। उन्होंने कृष्ण की माधुर्य-भक्ति का प्रचार किया। उनकी भक्ति-परंपरा में कृष्ण की उपासना सखा रूप में की गई। इस पद्धति में कृष्ण की भक्ति में उनका बाल और युवक प्रेमी रूप गृहीत किया गया। इसके बाद गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इनके मत के प्रचार-प्रसार में अत्यन्त सहायता पहुँचाई। उन्होंने अपने जीवन-काल में ही हिंदी के आठ प्रमुख कवियों को, जो कृष्णभक्त थे, सम्मानित कर अष्टछाप की स्थापना सं० १७०२ में की। इन कवियों ने कृष्ण की बाल-लीला, यौवन-लीला, गोपियों का विरह शृंगार तथा इस संप्रदाय की भक्ति का प्रतिपादन अपने काव्य का विषय बनाया। ये सभी ब्रज-भाषा के गेय पदों द्वारा कृष्ण की मूर्ति के सामने भक्त-मंडलियों के मध्य कीर्तन कर अपने मत का प्रचार करते थे।

अष्टछाप के कवियों द्वारा ब्रजभाषा के इस पंथ का अत्यंत सुन्दर साहित्य उपस्थित किया गया। उनमें सूरदास का नाम सबसे पहले लिया जाता है।

सूरदास

जनप्रियता की ही नहीं साहित्यिक मर्यादा की दृष्टि से भी सूरदास ब्रजभाषा के अप्रतिम कवि हैं। अष्टछाप के कवियों के वे सिरमौर हैं ही, कृष्णभक्त कवियों में भी उनकी समता का दूसरा कोई कवि नहीं। 'निज वार्ता' के अनुसार सूरदास श्रीवल्लभाचार्य के जन्म के दस दिन पश्चात् उत्पन्न हुए। इस तरह उनकी जन्मतिथि वैशाख शुक्ल ६, सं० १५३५ है; क्योंकि श्री वल्लभाचार्य की जन्मतिथि वैशाख कृष्ण ११, सं० १५३५ है। अब तक के अनुसंधानों से सूर के जीवन-वृत्त के संबंध में जो भी ज्ञातव्य बातें हिंदी जगत् के सम्मुख आयी हैं वे इस प्रकार हैं—

दिल्ली के समीप सीही नामक ग्राम के एक ब्राह्मण परिवार में सूरदास का जन्म हुआ। बचपन में ही वैराग्य उत्पन्न होने पर वे निकटस्थ एक दूसरे ग्राम को चले गये और वहाँ अठारह वर्ष की आयु तक रहे। वहाँ उन पर जनता की श्रद्धा थी। वहीं पर इन्होंने संगीत की शिक्षा ली। कंठ इनका ललित था, जिसके कारण संगीत में चार चाँद लग गए। यहाँ ३१ वर्ष की अवस्था तक सूरदास रुनकता (रेणुका) और स्थायी रूप से गऊघाट पर रहे। संगीत का पुराना अभ्यास यहाँ भी न छोड़ सके। साथ ही वे शास्त्र, पुराण आदि का गंभीर अध्ययन भी करते रहे। संभवतः यह शास्त्रज्ञान उन्हें सत्संग आदि से प्राप्त हुआ होगा। यहाँ पर वे विनय के पदों की रचना करते रहे और भक्तों के मध्य संगीत की स्वरलहरी में आत्मविभोर हो अपने पदों से भक्ति का प्रसार करते रहे।

लगभग सं० १५६७ में पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्री वल्लभाचार्य गृहस्थ जीवन धारण करने के पश्चात् जब तीसरी बार ब्रज-यात्रा के लिए अड़ैल से निकले तो गऊघाट पर सूरदास से इनकी भेंट हुई। दोनों एक-दूसरे से प्रभावित हुए। सूर के भीतर उनके प्रति असीम श्रद्धा का भाव जागा और वे इनके शिष्य बन गए। वे उन्हीं के साथ गोकुल गए और वहाँ श्री वल्लभाचार्य के आदेशानुसार भक्तिभाव से पूर्ण पदों की रचना करते रहे। गोकुल से वल्लभाचार्यजी के साथ ही आप चले और श्रीनाथजी के सम्मुख अपने भक्तिपूर्ण गायन और कीर्तन कर भक्तों में अजस्र रस की वर्षा करते रहे। गोवर्धन आ जाने के पश्चात् परासोली नामक स्थान को अपना स्थायी निवासस्थान बनाया और वहीं पर संवत् १६४० के लगभग उनका देहावसान हुआ।

कहा जाता है कि सूरदास से सम्राट् अकबर की भेंट हुई थी और अकबर ने उनके प्रति सम्मान भी प्रदर्शित किया था।

ऐसा समझा जाता है कि यह भेंट संवत् १६३२ में मथुरा में हुई थी, जिसमें सूरदास ने अकबर को अपने दो भजन सुनाए थे।

कुछ लोगों का ऐसा मत है कि सूरदासजी जन्मान्ध थे। इसकी पुष्टि में वे उनके पदों को प्रमाण-रूप में रखते हैं। पर हिंदी के प्रायः

सभी सुलझे हुए विद्वानों का मत है कि जन्मान्ध व्यक्ति जीवन के विविध उपकरणों का उस सूक्ष्मतापूर्वक विवेचन अपने काव्य में नहीं कर सकता जिस प्रकार का वर्णन सूरदास ने किया है।

रचनाएँ : काशी नागरी प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट के अनुसार सूरकृत ग्रंथों की संख्या सोलह है। श्री द्वारिकादास पारिख ने इनकी संख्या उन्नीस बताई है। इन ग्रंथों का विवेचन करने पर स्पष्ट हो जाता कि इनमें अनेक रचनाएँ या तो 'सूरसागर' से ली गई हैं या प्रक्षिप्त हैं, या किसी दूसरे इस नाम के कवि की लिखी हुई हैं। बहुत समय तक हिंदी के विद्वान् यह मानते रहे हैं कि सूरसागर, सूरसारावली और साहित्यलहरी ही सूर की प्रामाणिक रचनाएँ हैं। साहित्यलहरी दृष्टकूट पदों का संग्रह है जिसमें रस, नायिकाभेद एवं अलंकार आदि का वर्णन है। इस रीतिप्रधान रचना के ११८ वें पद में वंशावली दी गई है, जिसके कारण हिंदी समीक्षकों का ध्यान इधर आकृष्ट होता है। यह पद निश्चित रूप से बाद का जोड़ा हुआ है। सूरसारावली होली के बृहत गान के रूप में कही गई रचना है जिसमे ११०७ छंद हैं और प्रत्येक छद दो-दो पंक्ति का है। ये नीरस तो हैं ही, इनमें साहित्यिक गुणों का अभाव भी है, लेकिन हिंदी के अधिकांश विद्वान इसे सूर की ही रचना मानते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह सूरसागर की अनुक्रमणिका है। यह स्वच्छंद रचना मालूम पड़ती है, जो सूरसागर में वर्णित विषयों की पृथक् और संक्षिप्त रूप से दूसरी रचना-शैलियों में अभिव्यक्त है।

यदि ये दो रचनाएँ सूर की नहीं भी हैं तो भी उनकी महत्ता में किसी प्रकार कमी नहीं पड़ती। सूरसागर सूरदास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। कुछ लोगों का कहना है कि सूरसागर में सवा लाख पद थे; किंतु अद्यावधि जितने पद प्राप्त हुए हैं, वे दस हजार तक भी नहीं पहुँचे हैं। संभव है, उनके अनेक पद अभी वेष्टनों में बंधे पड़े हों। फिर भी उनकी संख्या दस हजार से अधिक पहुँचना सम्भव नहीं। न यही संभव जान पड़ता है कि सूर ने इतनी रचनाएँ की भी होंगी।

चौरासी वार्ता में स्पष्ट लिखा है—"सूरदास ने सहस्रावधि पद किये हैं, ताको सागर कहिये, सो सब जगत में प्रसिद्ध भये।" गोस्वामी विट्ठल-

नाथ जी तथा श्री वल्लभाचार्य क्रमशः इन्हें पुष्टिमार्ग का जलयान और भक्ति का सागर बतलाया करते थे। बहुत कुछ संभावना है कि सूरसागर इसीलिए इसका नाम पड़ा।

सूरदास को वल्लभाचार्यजी के मत के निर्देशानुसार श्रीमद्भागवत की कथा को ही अपने काव्य का विषय बनाना पड़ा। इन्होंने भागवत के दशम स्कंध की कथा का ही सविस्तार वर्णन किया है। शेष स्कंधों की कथा अत्यंत संक्षेप में कह दी गई है। इन पदों के सम्बन्ध में सर्वाधिक आश्चर्यचकित कर देने वाली बात यह है कि ब्रजभाषा की प्रथम साहित्यिक रचना होने पर भी इसमें इतनी सरसता है, इतनी मार्मिकता है, शृंगार और वात्सल्य रस का इतना परिपाक है कि रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह समस्त कवियों की कविता को सूरदासजी का जूठन बतलाते हैं।

सूरदास ने जो कुछ भी लिखा है उसमें इस प्रकार लीन हुए हैं कि उनके हृदय से रचना का जो स्रोत फूटा है उसमें सभी काव्यरसिक मुग्ध हो रसास्वादन करते हैं। सूरसागर वात्सल्य, शृंगार, भक्ति, विनय की अपूर्व उक्तियों से परिपूर्ण है। वात्सल्य और शृंगार का उन्होंने जैसा वर्णन किया है वैसा अन्य कोई कवि नहीं कर सका। एक-एक चेष्टाओं, एक-एक मानसिक वृत्तियां, एक-एक बाल-लीलाओं का वर्णन इतनी सूक्ष्मतापूर्वक किया गया है कि साहित्य में मनोवैज्ञानिक सत्यमात्र के उपासक भी दाँतों तले अंगुली दबा लेते हैं। एक-एक वृत्तियों का कई बार वर्णन किया गया है किन्तु प्रत्येक में नूतन रस, नवीन भाव भंगिमा और अप्रतिम मनमोहक क्षमता है। यशोदा, नंद, बाल कृष्ण, जिस किसी भी चरित का उन्होंने स्पर्श किया है वे अमर हो उठे हैं। बाल चेष्टाओं का सामर्थ्यपूर्ण वर्णन करने में संसार में स्यात् ही कोई कवि इतना सफल हो सका है।

जहाँ तक शृंगार का प्रश्न है, वहाँ भी संयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगारों का वर्णन सफलता के साथ सूर ने किया है। यद्यपि शृंगार-वर्णन में वासना भी बीच-बीच में आ धमकी है पर कहीं भी कुरुचिपूर्ण अश्लीलता पंख नहीं फटकार पायी है। उसका हृदय पर कोई

विकृत प्रभाव नहीं पड़ता। वियोग शृंगार में कवि की सारी प्रतिभा एक स्थान पर केन्द्रित-सी होती दीख पड़ती है और भ्रमरगीत के अंतर्गत विरह की सभी दशाओं का वर्णन किया गया है, जिससे कठोर हृदय भी करुणार्द्र हो उठता है।

सूर दो रूपों में हमारे सामने आते हैं। पहला रूप तो उनका वह है जब वह पुष्टि सम्प्रदाय से प्रभावित नहीं हुए थे और दूसरा रूप वह है जब वह उसके प्रभाव में आ गए थे। प्रारम्भ में उनकी भक्ति का स्वरूप सेवक-भाव का था, बाद में वही सख्य-भाव का हो गया। पुष्टि सम्प्रदाय में कृष्ण की बाल-लीला, राधा और कृष्ण का प्रेम-प्रसग तथा गोपियों का प्रसंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। यदि सूर के पदों का विषय के अनुसार वर्गीकरण किया जाय तो वह इस प्रकार होगा :

१. विनय के पद, २. अवतार की कथाएँ, ३. कृष्ण की लीलाएँ और ४. दार्शनिक पद।

कृष्ण-लीला के अन्तर्गत वात्सल्य रस की प्रधानता है। कवि का हृदय इतना सरल और विशाल दीखता है कि कभी तो वह बाल कृष्ण बन जाता है, कभी माँ यशोदा की वाणी में बोलता है, कभी नन्द की वाणी में बोलता है, पर सबसे बड़ी उसकी विशेषता यह है कि वह न केवल रूप मात्र से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करता है अपितु अविच्छिन्न रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित कर लेता है। इन मनोहारी चित्रों का दर्शन 'सूरसागर' में कहीं रूप-सौंदर्य, कहीं चेष्टा-सौंदर्य, कहीं क्रीड़ा, कहीं मानसिक और कहीं संस्कार-उत्सव आदि के रूप में उपस्थित किया गया है। कवि ने इन सौन्दर्य-चित्रों के स्फुरण में लौकिक और अलौकिक दोनों पक्षों का ध्यान सर्वत्र रखा है।

कृष्ण की तरुणावस्था की प्रेम-लीलाओं का वर्णन कवि ने किया है। राधा तो प्रेम की साकार प्रतिमा हैं ही, गोपियों का भी उनके प्रति अगाध प्रेम है। इस संबंध में उनके प्रेम का वर्णन अपना सानी नहीं रखता है। वे कृष्ण के विरह में व्याकुल होकर उसी प्रकार छटपटाती हैं जिस प्रकार जल के बाहर मीन। साथ ही गोपियों के विरह के वर्णन में प्रेम की प्रतिमूर्ति गोपिकाओं द्वारा जो भर्त्सना निर्गुण सम्प्रदायवादियों

की की गई है, वह भी भारतीय साहित्य में अपना सानी नहीं रखती। विरह के स्थलों में कवि की अभिव्यक्ति इतनी रसमय हो गई है कि सूर-साहित्य का अध्येता बिलकुल रस में डूब जाता है।

सूरदास गीतिकाव्य के गायक थे। उनकी सभी रचनाएँ गेय हैं। वे अच्छे सगीतज्ञ भी थे। उनकी यह गीति-शैली न केवल जयदेव, विद्यापति, चंडीदास और कबीर से अनुप्राणित है अपितु उसमें लोक में गाए जाने-वाले भाषा के पदों का प्रभाव भी है। सूर की उन कृतियों पर, जो पुष्टिमार्ग पर आने के पूर्व लिखी गईं, कबीर आदि की सन्त-भावधारा का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। उनके बाद के पदों पर जयदेव और विद्यापति का प्रभाव है। इसे केवल प्रभाव मात्र ही समझना चाहिए; क्योंकि परम्परा से प्राप्त गीतों की शैली पर सूर ने अपने व्यक्तित्व की मुहर लगा दी है। उनकी शैली सजीव, स्वाभाविक, चित्रमय तो है ही, व्यंग्यपूर्ण एवं भावों की गम्भीरता में वह जयदेव और विद्यापति से बहुत आगे हैं। विषय की नवीनता, रस का परिपाक, सभी कुछ उनकी रचनाओं में इस स्वाभाविक ढंग से आया है कि कहीं भी कोई तत्त्व बोझिल नहीं बन पाया है। उनकी ब्रजभाषा संयत, सुव्यवस्थित और गठी हुई है; उसका प्रवाह सहज, स्वाभाविक और भावों के अनुरूप प्राणवान तो है ही, माधुर्य और प्रसाद गुण से परिपूर्ण है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का, ब्रजभाषा के ठेठ शब्दों का; फारसी, अवधी, पंजाबी, गुजराती तथा बुन्देलखंडी शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। किन्तु भाषा का प्रवाह कहीं भी नहीं रुकता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूर का भाषा पर भी व्यापक और अच्छा अधिकार था।

यद्यपि सूरदास का काव्य-क्षेत्र तुलसी की भाँति व्यापक नहीं था तो भी ब्रजभाषा के कवियों में उनका स्थान अप्रतिम है। हिंदी को उनकी देन अप्रतिम है। उनकी रचनाएँ पुष्टिमार्ग के साम्प्रदायिक वातावरण में रची गई हैं तो भी उन्मुक्त हिन्दी गीति की वे अमर निधि हैं।

कुम्भनदास

हिंदी के सभी विद्वान् कुम्भनदास का जन्म संवत् १५२५ के लगभग

गोवर्धन के पास यमुनावती ग्राम में तथा मृत्युकाल लगभग सन् १६४० में मानते हैं। ये जाति के ठाकुर थे। लगभग संवत् १५५० में ये पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। गृहस्थ होते हुए भी ये निर्लिप्त भक्त थे। भक्ति के अतिरिक्त इनका और किसी वस्तु से नाता नहीं था।

कृष्णदास

अष्टछाप मंडल में कृष्णदास सर्वाधिक नीतिज्ञ, शक्तिशाली एवं रसिक व्यक्ति थे। इनका जन्म गुजरात के चजोदर नामक ग्राम में हुआ था। ये जाति के कायस्थ थे। सं० १६३५ के लगभग कुएँ में गिर जाने के कारण इनकी मृत्यु हो गई। इनका काव्य साधारण है।

नन्ददास

एटा के सोरो नामक स्थान में नन्ददास का जन्म संवत् १५७० के लगभग ब्राह्मण परिवार में हुआ था। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर लोगों का कहना है कि ये तुलसीदास के छोटे भाई थे। 'भक्त-माल' में इनके भाई का नाम चन्द्रहास बताया गया है। कहा जाता है कि इनके पिता जीवाराम, तुलसीदास के चाचा थे। कुछ लोग इन्हें तुलसीदास का गुरुभाई भी मानते हैं। कहा जाता है कि इन्होंने तुलसीदास के साथ रामानन्दी सम्प्रदाय के एक विद्वान् शिक्षक नरहरि पंडित से संस्कृत शिक्षा प्राप्त की थी। ये संस्कृत के ज्ञाता और काव्य तथा संगीतकला में अभिरुचि रखने वाले कृष्णभक्त थे। इनके कुछ रामभक्ति और हनुमानभक्ति के पद मिले हैं, लेकिन उन रचनाओं में प्रौढ़ता नहीं है। इनके संबंध में यह विख्यात है कि प्रारम्भ में ये काशी में रहते थे, किन्तु बाद में द्वारका चले गए थे। रास्ते में सिंहनद नामक एक स्थान पर एक खत्री की स्त्री पर इस प्रकार मुग्ध हुए कि बराबर उनके घर का चक्कर काटने लगे। उस स्त्री के घरवाले अपनी प्रतिष्ठा के रक्षार्थ उस स्थान को छोड़ गोकुल चले गए। वहाँ भी नन्ददास ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। अन्ततोगत्वा संवत् १६०० के लगभग गोस्वामी विट्ठलनाथ ने उनका लौकिक मोह भंग कर कृष्ण के अलौकिक प्रेम की ओर उन्हें उन्मुख

किया। कुछ समय तक ये सूरदास के सम्पर्क में भी रहे। वहाँ से पुन: यह अपने घर लौट आए और कमल नाम की एक स्त्री से शादी की तथा इन्हें कृष्णदास नाम का पुत्र भी हुआ। संवत् १६२४ के लगभग पुनः यह गोवर्द्धन चले आए और वहाँ पर श्रीनाथजी के भजन-कीर्तन में लगे रहे। संवत् १६४० के लगभग इनका देहावसान हो गया।

नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'नंददास-ग्रंथावली' में उनकी निम्नलिखित ११ कृतियाँ प्रामाणिक मानी गई हैं : रास-पंचाध्यायी, भागवत दशमस्कंध. भ्रमर-गीत, रूप-मंजरी, रस-मंजरी, अनेकार्थ-मंजरी, नाम-मंजरी, रुक्मिणी-मंगल, श्याम सगाई, सिद्धांत पंचाध्यायी।

'रास-पंचाध्यायी' नंददास की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। 'रास-पंचाध्यायी' में भागवत की कथा का सरल रूपान्तर किया गया है। 'रूप-मंजरी' में अकबर की दासी पत्नी का, जिसकी शारीरिक पवित्रता अंत तक बनी रही, वर्णन है। 'रसमंजरी' नायिकाभेद का ग्रंथ है। 'विरह-मंजरी' में विरह की चार अवस्थाओं—प्रत्यक्ष, पलकान्तर वनान्तर और देशान्तर—का उस समय का वर्णन है जब कृष्ण वृन्दाबन से मथुरा चले गए। 'भ्रमर-गीत' में उद्धव-गोपी-संवाद है। 'गोवर्द्धनलीला' में गोवर्द्धन लीला तथा गोवर्द्धन का वर्णन है। 'श्याम सगाई' में राधा से कृष्ण की शादी की कथा है। 'रुक्मिणी-मंगल' में कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह की कथा है। 'सुदामा-चरित्र' में सुदामा और कृष्ण की मैत्री का वर्णन है। 'भागवत दशमस्कंध' में भागवत के प्रथम २८ अध्यायों का अनुवाद है। 'पदावली' में समय-समय पर उनके द्वारा गाए गए पदों का संग्रह है। इनके दो ही ग्रंथ अत्यधिक प्रसिद्ध हुए—रास-पंचाध्यायी और भ्रमर-गीत। अष्टछाप के कवियों में काव्यत्व की दृष्टि से सूरदास के पश्चात् नंददास का ही नाम लिया जा सकता है। इन्होंने रोला, दोहा, चौपाई आदि विविध छंदों का उपयोग किया है। नंददास की भाषा इस बात का प्रमाण है कि उनके पास विपुलयोग शब्दभंडार था। वे शब्दों को साहित्यिक ढंग से रखना जानते थे तथा शैली की विभिन्नता की दृष्टि से अष्टछाप के कवियों में यह सबसे आगे आते हैं। इनकी रचनाओं से भाषा की सजा-

पट और शब्दों के माधुर्य का अच्छा आभास मिलता है। 'रास-पंचाध्यायी' में कृष्ण की रास-लीला का साहित्यिक वर्णन हृदय को मुग्ध करनेवाला है। 'भ्रमर-गीत' में उद्धव-गोपी-संवाद द्वारा निर्गुणपन्थियों के ऊपर भक्ति की विजय दिखाई गई है। ऐसी सुन्दर, सरस, तार्किक पद्धति पर इसका निरूपण किया गया है कि अध्येता नंददास के इस मनोवैज्ञानिक प्रतिपादन-पद्धति से प्रभावित हो उठता है। इनकी रचनाओं में संगीत की योजना भी मिलती है। ये सर्वत्र पुष्टि संप्रदाय के सिद्धांतों के घेरे के भीतर ही रहते हैं। उन सिद्धान्तों की मर्यादा के भीतर इस प्रकार काव्य की रचना की है कि पढ़नेवाले पर काव्य की अनुभूति का साधारणीकरण तो होता ही है, लेकिन कहीं भी ऐसा आभास नहीं होता कि वह पुष्टि संप्रदाय की बात लोगों पर लाद रहे हैं। यह कवि की बहुत बड़ी सफलता है। उनकी रचनाएँ कृष्णभक्ति-साहित्य की रचनाओं में अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

छीतस्वामी

चतुर्वेदी ब्राह्मण कुल में मथुरा में सं० १५७२ में छीतस्वामी का जन्म हुआ। सं० १५९२ में पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित हुए तथा गोवर्द्धन के पूछरी स्थान में सं० १६४२ में इनकी मृत्यु हुई। इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं है। केवल २०० पद मिले हैं जो काव्य की दृष्टि से साधारण हैं।

गोविंदस्वामी

भरतपुर के अतरी ग्राम में सनाढ्य ब्राह्मण कुल में सं० १५६२ में उत्पन्न हुए। सं० १५९२ में पुष्टि संप्रदाय में विट्ठलनाथजी के शिष्य हुए। सं० १६४२ में गोवर्द्धन में उनका देहावसान हुआ। कहा जाता है कि तानसेन इनका संगीत-शिष्य था। संगीत के ये अच्छे मर्मज्ञ थे। काव्य की दृष्टि से इनकी रचनाओं का स्तर साधारण ही है।

चतुर्भुजदास

चतुर्भुजदास कुंभनदास के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १५९७ तथा

मृत्यु सं० १६४२ के आस-पास मानी जाती है। कवि की अपेक्षा संगीतकार तथा कीर्तनकार के रूप में इनका महत्त्व अत्यधिक है।

अष्टछाप के कवियों में परमानंददास जी भी आते हैं। इनकी रचना सामान्य साहित्यिक महत्त्व की है।

हित हरिवंश

राधावल्लभ संप्रदाय के संस्थापक गोसाईं हित हरिवंश जी संवत् १५५६ में मथुरा में उत्पन्न हुए। यद्यपि आपका यह संप्रदाय मध्व संप्रदाय के भीतर ही आता है तो भी साधना की दृष्टि से उसमें कुछ नवीनता है। किंकरी या सखी भाव की स्थापना इनके द्वारा हुई तथा अनन्य दास-भाव से राधा की वन्दना भी इनके मत द्वारा प्रतिपादित हुई, क्योंकि कृष्ण राधारानी के दास हैं और राधा की उपासना से कृष्ण का प्रसाद प्राप्त किया जा सकता है। इनकी रचनाएँ बड़ी सरस तथा कोमल हैं। इनकी परंपरा को आगे बढ़ाने वाले सेवकजी, ध्रुवदास तथा व्यास जी अच्छे रचनाकार हुए।

स्वामी हरिदास

ये टट्टी संप्रदाय के संस्थापक एक सिद्ध भक्त थे। संगीतकला के अत्यंत मर्मज्ञ और संगीतकार थे। इनकी कविता का समय आचार्य शुक्ल जी ने संवत् १६०० से १६७१ ठहराया है। इनका जीवन वृन्दावन और मधुबन में बीता। यों तो इनके पद देखने में बड़े ऊबड़-खाबड़ हैं पर राग-रागिनियों से भरे पड़े हैं।

महाप्रभु चैतन्य द्वारा प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय में गदाधर भट्ट आदि अच्छे कवि हुए। राधावल्लभी संप्रदाय और गौड़ीय वैष्णव संप्रदायों की रचनाओं में, भक्तों द्वारा, स्त्री-रूप में आत्मसमर्पण की भावना दिखाई पड़ती है। यही भावना बाद में जाकर शृंगार-साहित्य की अभिवृद्धि में सहायक हुई।

मीरा

मीराबाई मेड़ता के राठौर दूदा जी के चौथे पुत्र रत्नसिंह की इकलौती पुत्री थीं। दूदा जी के बड़े पुत्र बीरमदेव (जन्म सं० १५३४)

और चौथे रत्नसिंह जी (मृत्यु सं० १५८४) थे। मीरा के जन्म के संबंध में अनेक तिथियों का उल्लेख विद्वानों द्वारा किया गया है। यदि रत्नसिंह और बीरमदेव के उत्पन्न होने में छः वर्ष का अंतर माना जाय तो उनकी जन्म-तिथि लगभग सं० १५४० के बाद ही पड़ेगी। यदि संभावना और कल्पना को ध्यान में रखा जाय तो मीरा की जन्मतिथि सं० १५६० के पश्चात् ही पड़ेगी। ऐसी परिस्थिति में मीरा का जन्म सं० १५६१ मानना ही मेरी दृष्टि से अधिक समीचीन होगा। शैशव में माँ की मृत्यु के कारण दूदा जी का स्नेहपूर्ण सान्निध्य भी मीरा को प्राप्त रहा। वे परम वैष्णव भक्त थे। ऐसी परिस्थिति में उनके मन के भीतर जिन महान तत्त्वों का पल्लवन हुआ वे निश्चय ही वैष्णव-भक्ति की सहज निष्ठा से अनुप्राणित जीवंत तत्त्व थे। सामाजिक दृष्टि से उस समय यह परम आवश्यक समझा जाता था कि लड़कियों की शादी अल्प वय में ही कर दी जाय और मीरा की शादी भी तत्कालीन महान सम्राट् महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज जी से की गई।

मीरा के जीवन में यौवन का संदेश व्यापक विक्षोभ लेकर आया। नई परिस्थितियों मे उन्हें सामंजस्य स्थापित करना पड़ा। जहाँ दूदा और जयमल जैसे परम वैष्णव भक्तों के साथ वे भक्तों का सत्संग करती थीं, उनका दर्शन करती थीं, उनकी ज्ञान की बात सुनती थीं, वहीं उन्हें घर की ज्येष्ठ बहू भी बनना पड़ा। घूघट डालकर घर में असूर्यपश्या की भाँति रहने को बाध्य किया जाने लगा। घर पर गिरधर गोपाल कृष्ण के अतिरिक्त दूसरे किसी से भय न खाने की शिक्षा जहाँ नित्यप्रति उन्हें मिली थी, वहीं हाड़-मांस के पुतले अपने कहे जाने वाले लोगों से त्रास दिया जाने लगा। ननदों, सास, देवरों का त्रास काल सदृश उन्हें लगा। मीरा के उन्मुक्त वैष्णव मन ने विद्रोह की रागिनी पर जीवन का स्वरसंधान प्रारम्भ किया, वे विषतुल्य इन परिस्थितियों को अमृत समझकर लगातार पीती गईं। संघर्षरत महाराणा साँगा के उदार चरित्र ने इनके लिये साधु-संतों का दरवाज़ा सीमित परिमाण में खोल दिया हो, संभव था मीरा के देह के भर्ता भोजराज के कारण व्यापक उत्पीड़न का विधान न किया गया हो, पर जिस त्रास से वे

आसित थीं—उसका आभास उनकी प्राप्त रचनाओं एवं उनके संबंध में प्राप्त सामग्रियों से ज्ञातव्य है।

ऐसी ही विडंबनामयी परिस्थिति में, जन्म-जन्म की एकत्र की गई उनकी साधना की अग्निपरीक्षा का अवसर आया। समस्त जीवन का वैषम्य शतोन्मुखी हो वज्र की भाँति उन पर एक साथ ही गिर पड़ा। युवराज भोजराज अपनी भक्त सहचरी का साथ छोड़ स्वर्ग के पथिक हो गए। राजरानी होने वाली मीरा विधवा हुईं।

वृन्दाबन में उनका उसके बाद का समय कटा। विभिन्न तत्कालीन वैष्णव सम्प्रदायों का गढ़, कृष्ण की लीलाभूमि वृन्दाबन था। विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में दाँव-पेच चल रहे थे। वे अपने सम्प्रदाय का प्रचार किसी भी मूल्य पर करना चाहते थे। चित्तौड़ की इस विधवा रानी पर भी उन्होंने डोरे डाले। सभी वैष्णव संप्रदाय हार गये पर उनके बन्धन में मीरा न बँधी। गोस्वामियों के प्रधान साधक को भी उनके सामने झुकना पड़ा। वृन्दाबन में भी 'स्व' की यह महत्तम साधना मीरा को मँहगी पड़ी, पर प्रियतम के रंग में दीवानी मीरा राग-रंग में भूले इन लोगों के सामने क्यों झुकतीं? उनके चरित्र पर कलंक का टीका लगाया जाने लगा, अतएव अपने प्रियतम की लीला-नगरी को छोड़कर वे द्वारका में गईं। अनुमानतः स० १६०० के लगभग वह द्वारका की ओर उन्मुख हुई होंगी। यह भी संभावना है कि मेड़ता और चित्तौड़ के लोग वृन्दाबन आते रहे हों। उनके अपने लोग वहाँ भी मीरा को बाँधना चाहते रहे हों; राणा-परिवार की लोक-लाज का भय तथा द्वारका-आकर्षण मीरा को द्वारका ले जाने में प्रेरक हुआ हो। मीरा की मृत्यु द्वारका में हुई—इस पर प्रायः सभी विद्वान् एकमत हैं, पर तिथि के सम्बन्ध में १६३० तक मीरा को लोग ले जाते हैं। मेरी राय में यह समय संवत् १६१० के आस-पास होना चाहिए क्योंकि संवत् १६११ में मेवाड़ में गिरधरलाल की मूर्ति की स्थापना उनकी स्मृति को सजीव रखने के लिए की गई थी। अतएव १६१० में मीरा की मृत्यु संभव मानना ही ठीक होगा।

रचनाएँ : मीरा के तीन ग्रंथों का उल्लेख किया जाता रहा है, पर,

सत्य यह है कि मीरा ने केवल स्फुट पदों की रचना मात्र की है। प्रबंध-काव्य के लिए जिस परिस्थिति, वातावरण और शक्ति की आवश्यकता होती है, वह मीरा में नहीं दीखती। वे तो भावों में दीवानी प्रम को प्रगीतों में व्यक्त आत्म-अभिव्यक्ति करने वाली गायिका मात्र हैं।

अब तक जितने पद मीरा के हिंदी-जगत के सम्मुख आये हैं यदि उनका विषय की दृष्टि से विवेचन किया जाय तो उनमें निम्नलिखित विषयों का गुम्फन है : जीवन-संघर्ष, भक्ति, शृंगार-वियोग एवं संयोग, विनय-निवेदन—राम, गुरु, शंकर और कृष्ण से संबंधित साम्प्रदायिक प्रभाव से युक्त पद।

यदि गम्भीरतापूर्वक इन पदों का वर्गीकरण किया जाय तो ऐसा निश्चित आभास मिलता है कि विभिन्न सम्प्रदायों के प्रभाववाले पद उनकी प्रारंभिक रचना के अन्तर्गत आएंगे क्योंकि न तो अधिकांश पद उनमें से मंजे हुए हैं, न भाषा व्यवस्थित है और कहीं-कहीं उनमें भावों का घपला भी मिलता है। अपेक्षाकृत ब्रजभाषा की रचनाएँ बाद की तथा प्रौढ़ लगती हैं और ऐसा आभास लगता है कि ब्रजभाषा में केश पंडुर होने के समय की प्रौढ़ता पदों में है। अतएव कृष्ण-स्नेह की प्रौढ़ रचनाएँ निश्चय ही उनके काव्य की व्यापक सत्ता का उद्‌बोध कराती हैं। कृष्ण को इन्होंने परमेश्वर, प्रियतम, साँवरिया, छलिया, निर्मोही, विश्वासघाती, मनमोहन आदि शब्दों से संबोधित किया है। अधिकांश रचनाओं में वे सगे प्रियतम के रूप में स्मरण किए गए हैं—संयोग और वियोग के अनुसार संबोधन में यथोचित परिवर्तन दृष्टिगत होता है। माधुर्य भाव से कृष्ण को जीवन-साथी के रूप में इन पदों में अभिव्यक्त किया गया है। कृष्ण की 'मोहिनी मूरति, साँवरि सूरति' वाला रूप ही मीरा ने प्रायः सर्वत्र रखा है। उनके संयोग शृंगार के पद तो उतने ऊँचे नहीं उठ पाए, जितने वियोग के पद। विरह के पद रूप में प्रियतम के प्रति नारी के उद्‌गार होने के कारण उनमें हृदय की नैसर्गिक छटा मात्र ही नहीं, उनमें मीरा के जीवन का सर्वस्व शब्दों में मूर्त हो उठा है।

विरह की इन भावनाओं में केवल पपीहा के पुकार की जलन नहीं, आँसू का सावन-भादों भी है। इन पदों में संघर्षशील शुद्ध हृदय की

सहज आस्था जिस निर्मल ढंग से व्यक्त हुई, वह कम-से-कम हिंदी में आज भी अकेली ही है। बीच-बीच में अन्य वर्णन उन्होंने अभिव्यक्ति को बल देने के लिये किया है चाहे वह पुराण की गाथा हो, पापी पपिहरा की बोली हो, चाहे स्मृति से व्यक्त की गई जीवन की घटनाएँ हों।

जीवन की अभिव्यक्तिवाले पदों में मीरा एक फक्कड़ व्यक्तित्व लेकर ही नहीं आयी हैं, अपितु वहाँ पर उनका अक्खड़पन अपनी नई सीमा बनाता है। पर वह कबीर की भांति मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करतीं। उनमें अपनी भावनाओं के प्रति प्राणवान प्रगाढ़ निष्ठा तो है ही, ध्वंस की कालिमा से भी वे मुक्त हैं। जहाँ नारी-हृदय कुसुम से भी कोमल होता है, वहीं आवश्यकता पड़ने पर वज्र से भी वह अधिक कठोर हो उठता है। मीरा के जीवन-संबंधी पद इस तथ्य के हिंदी में सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

जहाँ माधुर्य-भाव से रचना की जाती है, रहस्य की भावना का उद्रेक स्वाभाविक रूप से स्वतः हो जाता है। मीरा के कुछ पद भी रहस्यवादी रचनाओं के अंतर्गत सन्निहित किए जा सकते हैं पर उनकी साधना को माधुर्य-भावना मात्र से अनुप्राणित मानना अधिक समीचीन होगा। उनके विनय-संबंधी पदों में भी सरसता का परिपाक है। अनेक प्रगीतों में एक ही भाव की पुनरावृत्ति के दर्शन होते हैं। मीरा के जीवन में एक सबसे बड़ा प्रश्न भी था। एक ही प्रश्न पर अनेक बार एक ही ढंग के भावों का उद्रेक होना स्वाभाविक है, और मतवारी मीरा तो साधुसंतों के बीच प्रायः भावों में तल्लीन हो नित्यप्रति जीवन के गीतों से वातावरण रससिक्त करती रहती थीं। पर ये पद कहीं भी उबानेवाले नहीं हैं, अपितु सारस्य उत्पन्न करनेवाले ही हैं।

प्रकृति को भी मीरा ने अपने भावों के प्रकाशन में आलंबन के रूप में प्रयुक्त किया है। घिरे बादलों, सावन की बरसा, आमों का बौराना और पपीहे की पी-पी की रट विरही प्राणों में हृदय की चीत्कार बनकर कड़क उठी है। वही तड़पन ऐसे पदों में शब्दमय हो ध्वनित हो उठी है। मीरा का एक बारहमासा भी मिलता है, जो एक पद में बारह

महीनों में विरहाकुल मीरा की स्थिति की अभिव्यक्ति के रूप में है। निश्चय ही ऐसी ही सहज, सरस, निर्मल अभिव्यक्तिवाली कवयित्री मीरा न केवल महान हैं, अपितु भारतीय साहित्य मंदिर की पताका हैं। इस तथ्य को तारापुरवाले जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान् भी मानते हैं।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, उनके पद विभिन्न भाषाओं में मिलते हैं, विशेषकर गुजराती, व्रज और राजस्थानी में। अधिकांश पदों में तीनों का मिश्रण है। सहज, सरल, तत्कालीन लोक-भाषा का प्रयोग उन्होंने व्यापक रूप से किया है। ऐसा करना ही उनके लिए अधिक उपादेय भी था, क्योंकि जिनके बीच वे पद सुनाया करती थीं वे बहुत बड़े विद्वान या पंडित नहीं हुआ करते थे, अपितु सामान्य जनता उनके सामने थी और सुधि में मतवारे भाषा के रूप के पीछे नहीं दौड़ते, वह तो उनके भावों के पीछे मतवाले रहते हैं। मीरा के प्रायः अधिकांश पद राग-रागिनियों में बँधे हैं। अपनी विशिष्टता के कारण ये सैकड़ों वर्षों से कन्याकुमारी से काश्मीर तक संगीतज्ञों और भक्तों द्वारा गाये जाते थे, हैं और रहेंगे।

नरोत्तमदास

'शिवसिंह सरोज' में नरोत्तमदास का जन्म संवत् १६०२ में माना गया है। ये सीतापुर के रहनेवाले थे। इनकी प्रसिद्धि 'सुदामा-चरित' को लेकर है। इन्होंने इतने सुंदर ढंग से अपने भावों की अभिव्यक्ति की है कि इनकी रचनाओं में रसिकों का हृदय रम जाता है। लघु काव्य होने पर भी सुदामा-चरित की साहित्यिक महत्ता उसके सहज भाव-सौंदर्य तथा सुंदर वर्णन के कारण अत्यधिक है। इसकी भाषा अत्यंत परिमार्जित है। सुदामा और कृष्ण की सुप्रसिद्ध कथा सरस पद्धति पर इसमें वर्णित है।

रसखानि

कृष्णभक्ति की मधुर रागात्मक भावना ने न केवल हिंदुओं को अपनी ओर आकर्षित किया बल्कि अनेक मुसलमान भी इधर आकृष्ट

हुए। इनमें 'रसखानि' सर्वाधिक जनप्रिय सरस कवि हुए। 'रसखानि' इनका उपनाम है।

'शिवसिंह सरोज' में इनका नाम 'सैयद इब्राहीम पिहानी वाले' बतलाया गया है। ऐसा कहा जाता है कि हुमायूं को शरण देने के कारण काजी सैयद गफूर को हरदोई जिले में ५००० बीघा जमीन पुरस्कार-स्वरूप दी गई थी। वे सैयद पठान थे। संभवत. इन्हीं के परिवार के थे 'रसखानि'। अकबर से जहाँगीर तक बराबर पठानों का यह प्रयत्न चलता रहा कि विदेशी मुग़लों से पुनः सत्ता छीन ली जाय। अकबर के समय शाह मंसूर मरवाया गया था। सम्भवतः उसी समय पठानों के लिये गदर की स्थिति उत्पन्न कर दी गई हो और रसखानि को दिल्ली छोड़ना पड़ा हो। ऐसा भी अनुमान लगाया जाता है कि अकबर जिससे रुष्ट होता था, उन्हें मक्का भेज देता था, 'रसखानि' वहाँ न जाकर वृन्दाबन में ही रह गए हों। यह भी अनुमान लगाया जाता है कि 'रसखानि' 'दीन इलाही' में आस्था न रहने के कारण भी वृन्दाबन में रह गए हों।

ये अत्यंत प्रेमी जीव थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार यह प्रसिद्ध है कि किसी बनिये के लड़के से उनका प्रेम था, पर 'रसखानि' के सम्पादक के मत में वह कोई स्त्री रही होगी। उन्होंने इस तथ्य को उनकी रचना का आधार बनाकर सिद्ध भी किया है। उनका प्रेम अपनी स्त्री के अतिरिक्त और भी किसी स्त्री से था, पर दोनों का प्रेम छोड़-कर वे कृष्ण के रूप पर मुग्ध हुए थे।

'दो सौ चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार यह गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य माने जाते हैं। उनके द्वारा इन्हें प्रेमदेव की मोहिनी मूर्ति के अलौकिक सौंदर्य का आभास हुआ। इनका लौकिक सौंदर्य अलौकिक सौंदर्य पर मुग्ध हो उठा और उसके पश्चात् जीवन-पर्यन्त अपने प्रेमदेव से प्रेम करते रहे। इनका रचनाकाल संवत् १६४० के उपरान्त ही माना जाता है। रसखानि प्रेमी जीव थे तथा प्रेम के बंधन में आबद्ध थे। उन्होंने अपने सहज हृदय का प्रेम अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है। प्रेम से निकले उनके हृदय के उद्गार इतने जनप्रिय

हुए कि लोग प्रेम और शृंगार के कवित्त-सवैयों को ही रसखान कहने लगे। इनकी भाषा प्रभावपूर्ण सरस तो है ही, उसमें एक प्रकार की स्निग्ध सफाई है। उनके भावों में हृदय को मुग्ध करने की विचित्र क्षमता है। इनके दो ही ग्रंथ 'प्रेम-वाटिका' और 'सुजान रसखान' प्राप्त हैं। इनकी रचनाएँ इतनी सरस तथा प्रौढ़ हैं कि सहज ही उनकी ओर मन खिंच जाता है। इनकी एक और बड़ी विशेषता यह है कि अन्य कृष्णभक्त कवियों की भाँति इन्होंने केवल गीति-काव्य का आश्रय नहीं लिया, अपितु कवित्त और सवैयों में कृष्ण की लीला सखा-भाव से गाते रहे। सर्वत्र इनकी रचनाओं में प्रेम-भाव की अत्यंत सुन्दर व्यंजना हुई है।

प्रसिद्ध दरबारी कवि

अकबर के दरबार में न केवल संगीत, चित्रकला की मर्यादा थी, अपितु साहित्यकारों का भी वहाँ सम्मान होता था। हिंदी-साहित्य के इस काल में अकबर के दरबार में राजाश्रय प्राप्त अनेक कवि थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा हिंदी का भंडार बढ़ाया। अकबर स्वयं ब्रजभाषा का कवि था। उसके दरबार में भी अनेक कला और साहित्य-प्रेमी उच्च पदाधिकारी थे, जो स्वयं भी हिंदी में रचना करते थे। बीरबल, टोडर, रहीम, सभी कवि थे।

रहीम

रहीम का जन्म सं० १६१० मृत्यु सं० १६८३ है। वे बैरम खाँ के पुत्र थे। वे संस्कृत, अरबी, फारसी के अच्छे विद्वान तथा काव्य-कला-मर्मज्ञ थे। वे कलाकारों और कवियों पर सदा दीवाने रहते थे। इनकी सभा के वही शृंगार थे। दान करने में भी इनकी समता का दूसरा कोई पदाधिकारी उस युग में नहीं हुआ। दानी के साथ-साथ वे बहुत बड़े योद्धा भी थे तथा अकबर क महामंत्री और सेनानायक भी।

जन-जीवन में तुलसी और कबीर की भाँति रहीम की रचनाएँ भी प्रतिष्ठित हैं। इन्होंने अपने काव्य का विषय जीवन की सच्ची मार्मिक

अनुभूतियों को बनाया है। उसमें कल्पना नहीं, केवल अनुभव का घोल है। जीवन की सत्य परिस्थितियों में डूबकर इतनी सरस अभिव्यक्ति उन्होंने की कि लोगों के अधर पर उनकी कविता सदैव रहती है। बरवै-नायिका-भेद हो या नीति-संबंधी दोहे हों—सर्वत्र उनका मार्मिक रस-सम्पन्न हृदय उनके काव्य में छलक उठता है। कुछ लोगों का कहना है कि उन्होंने केवल नीति-संबंधी दोहे लिखे, पर वास्तव में वे कोरे नीतिवादी दोहे नहीं अपितु उनमें अजस्र संवेदनशील मानव-हृदय की सहज एवं मार्मिक अभिव्यक्ति है। उनकी यह महत्तम मानवता जीवन की हर परिस्थिति के काव्य में अभिव्यक्त हुई। ब्रज, अवधी—दोनों भाषाओं पर उनका अधिकार था, और इनकी अनेक सूक्तियाँ तो बाद के कवियों ने भी अपनायीं। यद्यपि रहीम की प्रसिद्धि दोहों को लेकर है तो भी कवित्त, सवैया, सोरठा, बरवै प्रायः सभी छन्दों में इन्होंने रचना की है। इनकी रचनाओं के नाम हैं, रहीम दोहावली या सतसई, बरवै-नायिका-भेद, शृंगार-सोरठ, मदनाष्टक, रास-पंचाध्यायी और रहीम-रत्नावली। इन्होंने फारसी में भी रचनाएँ कीं तथा कुछ मिश्रित रचनाएँ भी कीं। इनकी रचनाओं में खड़ी बोली के पद्य का प्रारम्भिक रूप भी मिल जाता है।

गंग

आज तक यह उक्ति चली आ रही है कि 'तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार', जिससे ज्ञात होता है कि गंग की कविता अत्यंत उच्चकोटि की मानी जाती रही है। कहा जाता है, ये ब्रह्म भट्ट थे तथा अकबर के दरबारी कवि थे।

नरहरि 'बन्दीजन'

संवत् १५६२-१६६७। रुक्मिणी-मंगल छप्पय, नीति और कवित्त संग्रह के रचयिता, अकबर द्वारा महापात्र की सम्मानित उपाधि से विभूषित तथा उसके दरबार के प्रमुख कवि, 'नरहरि' बन्दीजन असनी फतेहपुर के निवासी थे। इनका प्रभाव इतना अधिक था कि इनकी

रचनाओं के प्रभाव के कारण गोवध बन्द करवा दिया गया था।

महाराज टोडरमल, बीरबल, मनोहर कवि आदि भी अकबर के दरबार की शोभा थे। कवि होलराय भी अकबर के दरबार में आते-जाते थे। यह चारण कवि थे। कविता अच्छी होते हुए भी जन-जीवन से उनकी कविताओं का कोई भी संबंध न था।

संवत् १६८८ में शाहजहाँ के दरबार के कवि सुंदर ने 'सुंदर श्रृंगार' की रचना की। इनकी दो पुस्तकें सिंहासन-बत्तीसी और बारहमासा भी बताई जाती हैं।

अन्य राज्याश्रित कवि

अन्य राजदरबारों में भी इस युग में राज्याश्रित कवि हुए, जिनमें केशवदास, ओरछा नरेश के भाई इन्द्रजीत सिंह की सभा में और लालचंद, महाराणा जगतसिंह मेवाड़ की सभा में थे। लालचंद (संवत १६८५-१७०६) ने संवत् १७०० में पद्मिनी-चरित्र नामक प्रबंध-काव्य गीतों में लिखा।

मध्यकाल (उत्तर)

[सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी]

वास्तव में भक्तिकाल में जिस प्रकार की रचना हुई वह हिंदी के लिए क्या, किसी भी भाषा के साहित्य के लिए गौरव की बात हो सकती है। वह हिंदी के लिए स्वर्णयुग था। उस काल में हिंदी की कविता राजाश्रयों से नहीं, महान् न:पूत साधकों के हृदय से निकलकर जनता के लिए न केवल अमर-कल्याणी का संदेश लेकर आयी थी, अपितु भविष्य के लिए भी चेतना और जागरण का महान् संदेश दे गई। इस युग की कविता वीरकाव्य की भाँति राज्याश्रित हो चली। उसकी अंत.प्रेरणा का सामान्य स्रोत जन-जीवन के भीतर से न फूटकर राजकीय वातावरण में फूटा।

जहाँगीर की जननी और जन्मभूमि दोनों हिंदी थी। वह दोनों का रचनाकार तो था ही हिंदी को उसने प्रोत्साहन और प्रश्रय भी दिया। वह हिंदी-कवियों को दान और मान दोनों देता था। उसका भ्राता दानियाल भी अहले हिंद 'ब्रजभाषा' का कवि था। जहाँगीर के पुत्र शाहजहाँ को इस क्षेत्र में हम और आगे पाते हैं। वह हिंदी का दक्ष कवि था और जन्मजात 'हिंदवी' था। उसके समय में सारे मुग़ल साम्राज्य की लोक एवं सम्पर्क भाषा ब्रज थी। पंडितराज जगन्नाथ, चिंतामणि, कुलपति मिश्र, 'सुंदर', कवींद्राचार्य आदि उसके प्रिय कवि थे। कविराय, महा-कविराय, कविराज, गुनसमुद्र, पंडितराज जैसी उपाधियों से वह अपने विद्वानों, संगीतज्ञों और कवियों का सम्मान करता था। वह हिंदी में पत्राचार भी करता था। आलमगीर औरंगज़ेब के लिए भी हिंदी हराम न थी अपितु उसकी उपयोगिता के कारण वह उसके उपयोग और प्रयोग का हामी था। यह उपयोगिता लोकमंगल तथा शासन की सुविधा के कारण थी।

औरंगज़ेब 'वृन्द' जैसे उन्मुक्त कवि का स्वागत और सत्कार करता था। भूषण के बड़े भाई चिंतामणि यदि शाहजहाँ के दरबार की शोभा थे तो भूषण से कभी आलमगीर का भी संबंध था। कालिदास, कृष्ण और सामंत जैसे कवि उसके प्रशंसक थे। औरंगज़ेब हिंदी का कवि था। उसके अग्रज दाराशिकोह का संस्कृत और हिंदी-प्रेम इतिहास की चर्चा का विषय है। उसका पुत्र आजमशाह हिंदी के कवियों का परम भक्त था। आलमगीर के कारण इसके लिये ब्रजभाषा व्याकरण 'तोहग तुल्फहिंद' की रचना हुई। इससे स्पष्ट है कि औरंगज़ेब भी ब्रजभाषा को उस समय की लोकशिष्ट और काव्य की भाषा मानता था। शाहआलम, बहादुरशाह भी हिंदी के अच्छे कवि थे। इनकी भी मातृभाषा हिंदी ही थी। लालकुँवर का चहेता जहाँदारशाह 'मौज' नाम से रचना करता था। सैयद-बंधुओं के समय में भी हिंदी कवियों को पर्याप्त राज्याश्रय मिला। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिंदी या ब्रजभाषा के काव्य को मुगलों का आश्रय प्राप्त था और वे उसे लोकभाषा के रूप में प्रतिष्ठित तो मानते ही थे, हिंदी के कवियों को व्यापक सम्मान भी देते थे।

इनकी देखादेखी उनके सामंत और आश्रित राजा भी यही करते थे। इन कवियों के लिये उस युग में इस आश्रय के अतिरिक्त जीविका का अन्य कोई साधन न था। यद्यपि इनमें से अधिकतर गुणग्राहक थे तो भी आश्रयदाता की रुचि के कार्य के लिये आश्रय स्वतः आश्रित को बाध्य कर देता है।

इन अमीर-उमरावों के अतिरिक्त ब्रजभाषा के कवियों के आश्रयदाता विभिन्न संप्रदायों के मंदिर और मठ आदि थे। वैष्णव माधुर्य भावना से शील, शक्ति और सौंदर्य में आस्था रखने वाली रामभक्ति भी सराबोर हो चुकी थी। मंदिरों के महंत और पुजारी कनक और कामिनी की उपासना से छलिया कृष्ण और रसिक राम को रिझाने का यत्न इसलिये भी कर रहे थे कि इसमें उनका दैहिक तथा भौतिक कल्याण था। प्रबंध की क्षमता का प्रदर्शन ब्रजभाषा के पूरे इतिहास में नहीं के बराबर मिलता है। यदि कोई प्रबंध काव्य लिखा गया तो उसकी भाषा में निश्चय ही अन्य भाषाओं का सम्मिश्रण मिलेगा।

शांति और सुव्यवस्था जहाँ समाज के विकास और सुखमंगल का द्वार खोलती है वहीं वह व्यक्ति को पुरुषार्थ और संघर्ष से विरत कर विलासिता की ओर भी उन्मुख करती है। मुगलकालीन समाज में दो वर्ग स्पष्ट थे : मुख साधन-सम्पन्न विलासोन्मुख वर्ग और जीवन के अस्तित्व की रक्षा कर अपना अस्तित्व किसी प्रकार बनाए रखनेवाला निर्धन वर्ग। दूसरे के लिये अन्न ही ब्रह्म था, अन्य किसी बात की चिंता के लिये उसके यहाँ स्थान ही न था। पर इन्हीं के पुरुषार्थ पर जीवित था पहला वर्ग जिसके लिये उस युग में उपलब्ध समग्र विलास-प्रसाधन सुलभ थे। कविता, चित्रकला, स्थापत्य और संगीत सब इसी वर्ग के लिये थे।

युग का साहित्य और उसकी परम्परा

ब्रजभाषा की उत्पत्ति भले ही शताब्दियों पूर्व की न हो, तथापि जिस प्रदेश की वह एक समय एकछत्र जनभाषा थी, उसका पूर्ववर्ती साहित्य संसार के प्राचीनतम साहित्यों में से अन्यतम है। उसके साहित्य की गरिमा विश्व के साहित्य में आज भी अक्षुण्ण है, उसकी प्राचीनता के कारण नहीं, उसके गुण-धर्म के कारण। उसके मूल में अर्थ, धर्म एवं काम की त्रिवेणी है। यदि काव्य को लिया जाय तो काम, प्रेम और शृंगार की रचनाएँ ही सर्वाधिक व्यापक पैमाने पर उत्तर-मध्यकाल में दीख पड़ेंगी। भक्ति और शृंगार का साहित्य भी प्रायः उनसे मुक्त न दिखेगा। यह शृंगार भी मुख्यतया दरबारी वैभवरंजित विनोदविलसित तो मिलेगा ही, उसमें नखशिख, नायिकाभेद, ऋतुवर्णन, अष्टयाम आदि विषय व्यापक परिधि में राधा-कृष्ण के माध्यम से उपस्थित मिलेंगे। ये रचनाएँ अधिकांश में रस तथा अलंकार सिद्धांताद्धृत दोहा, कवित्त और सवैया छंद में बद्ध मुक्तक शैली की हैं। अलंकारों में श्लेष, यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास आदि का बाहुल्य मिलेगा। इन कविताओं में विलास की मादकता अतिशयोक्तिपूर्ण रूप में उपस्थित मिलेगी और दरबारी चाटुकारिता (प्रशस्ति) और उक्ति-वैचित्र्य का भी अभाव न

मिलेगा। इसका आशय यह न माना जाय कि इस युग का सारा काव्य इसी ढाँचे में ढला है। अनेक कवियों की सहज प्रेम की उन्मुक्त कविताएँ भी इस युग में मिलेंगी। किंतु वे भी भाषा एवं शैली आदि की दृष्टि से युग के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं मानी जा सकतीं। इनमें से कुछ ने युगप्रचलित पद्धति पर भी प्रयोग किया है।

यद्यपि ऐसी रचनाएँ संवत् १५९८ से ही लिखी जा रही थीं तो भी संवत् १७०० से संवत् १९०० वि० तक ऐसी रचनाओं का प्राधान्य रहा है। इस युग की अधिकांश रचनाओं में पांडित्य-प्रदर्शन की रुचि दीखेगी। उनमें से कुछ कवि तो स्पष्टतः काव्यशास्त्र के लक्षण उपस्थित कर उदाहरण के रूप में रचनाएँ प्रस्तुत करते हुए मिलेंगे और कुछ केवल काव्यशास्त्र के लक्षणों को आधार बनाकर काव्य प्रस्तुत करते हुए।

इस युग के ऐसे साहित्य के संबंध में नामकरण को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। कोई इसे अलंकृत काल, कुछ लोग शृंगार काल और कुछ लोग इसे रीति-शृंगार युग के नाम से संबोधित करते हैं। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में शुक्लजी का मानदंड इतिहास के क्षेत्र में मेरुदंड की भाँति प्रतिष्ठित है। उन्होंने इसे रीतिकाल की संज्ञा दी है।

रीतिकाल के सामान्य परिचय के प्रसंग में शुक्ल जी स्वयं स्पष्ट कर चुके हैं कि 'इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है।'

शृंगार की रचनाएँ हर युग में हुई हैं। ऐसी स्थिति में किसी युग-विशेष में इसे सीमित करना रसराज का समुचित सम्मान नहीं होगा। शुक्लजी ने इस काल के केवल दो उपवर्ग किए हैं—रीति ग्रंथकार कवि एवं अन्य। प्रथम में उन्होंने दो वर्ग किए हैं। एक वे जिन्होंने लक्षण और उदाहरण दोनों प्रस्तुत किए हैं, और दूसरे वे जिन्होंने काव्य के लक्षणों को ध्यान में रखते हुए रचनाएँ की हैं।

रीतियुगीन काव्य में शृंगारपरक काव्य की प्रधानता है। रीतिकाव्य का कवि कामशास्त्र के प्रति भी आकृष्ट है।

रीतिकाल का साहित्य जहाँ रसविश्लेषण की ओर उन्मुख होता है वहाँ वह गंभीरता के अंतस्तल को स्पर्श मात्र करता है। मीमांसा की दृष्टि से इस युग के काव्यशास्त्र का विवेचन दारिद्रयपूर्ण है तथा प्रायः किसी गंभीर, मौलिक और नवीन प्रभोज्ज्वल उद्भावना का सामान्यतः कहीं भी दर्शन नहीं होता। इस युग का रसविवेचन रससंबंधी पूर्व साहित्य-शास्त्र की धूमिल छाया मात्र है। जहाँ भी रीतिकाल में रसचर्चा हुई है, वहाँ मूलतः शृंगार रस का विस्तार मात्र दीखेगा। अन्य रसों के लक्षण, उदाहरण और उसके स्थायी भावों की चर्चा मात्र है, प्राधान्य सर्वत्र शृंगार का ही मिलेगा। उसके आलबन विभाव, नायिका और नायक के भेद तथा तत्संबंधी अन्य प्रकरणों का व्यापक विस्तार वहाँ अवश्य मिलेगा। इसलिए रीति साहित्य के रसविवेचन-प्रसंग की सारी गरिमा शृंगार की महिमा में सिमटी है।

धर्म का आश्रय पा विद्यापति के पश्चात् राधाकृष्ण का तत्त्व साहित्य में नए आर्जव का अधिकारी बना। साहित्य और वैष्णव संप्रदायों में राधाकृष्ण इतने घुल-मिल गए और एक-दूसरे के रंग में इतने रँग गए कि उनके सांप्रदायिक रूप में विभाजन की सीधी रेखा खींचना असंभव है। इस संयोग का कारण यह भी है कि अपने मत के प्रसार के अभिलाषी संप्रदायों के पास उस युग में प्रचार के लिए संगीत-पूरित पदों के द्वारा मतप्रसार के साधन के अतिरिक्त अन्य कोई प्रभावशाली साधन भी न था। इसलिए संप्रदाय के उपदेष्टाओं और प्रवर्तकों के लिये भी उस युग में काव्यशास्त्र का ज्ञान आवश्यक था। अतएव इस युग में काव्य एवं धर्म का योग हुआ तथा प्रबुद्ध लोगों द्वारा काव्य को परम प्रतिष्ठित पद दिया गया। अन्य कलाएँ काव्य के पूरक रूप में स्वीकार की गईं, इसलिए संगीत और काव्य दोनों ने राधाकृष्ण के इस रूप का विस्तार और प्रसार किया। इस प्रकार साहित्य

और धर्म दोनों की परम्परा से रीतिकालीन साहित्य लाभान्वित हुआ ।

रीतिकालीन काव्य में रस के प्रसंग में नायक-नायिका-भेद का व्यापक विस्तार है । यह विस्तार रसराज शृंगार के आलंबन विभाव के रूप में राधाकृष्ण के माध्यम से फूला-फला और पल्लवित हुआ । रीतिकाल के साहित्य में मौलिक चिंतन का अभाव है, किंतु उसके मूल तत्त्वों का उत्स संस्कृत-साहित्य के शास्त्र-ग्रंथों में है ।

भाषा

रीतियुग की भाषा शुद्ध टकसाली ब्रजभाषा नहीं है और इस भाषा का भक्तिकाल में जैसा विकास हो रहा था उसे देखते हुए रीति-साहित्य की भाषा अधिक प्रबुद्ध भी नहीं है । ब्रजभाषा पर केवल देशी भाषाओं का ही प्रभाव नहीं, राज-भाषाओं और सबल देशी रजवाड़ों की बोलियों का भी प्रभाव पड़ा । इस प्रकार रीतियुग की ब्रजभाषा में जहाँ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश से शब्द गृहीत हुए, वहीं मुग़लों की राजभाषा फारसी और धर्म-भाषा अरबी के शब्द भी इसमें मिले और बुंदेलखंडी, अवधी और पूरबी बोलियों के शब्द भी धड़ल्ले से प्रगृहीत हुए । इस प्रकार जहाँ ब्रजभाषा को व्यापक शब्द-भंडार इस भाषा के व्यापक प्रसार के कारण प्राप्त हुआ, वहीं भाषा के प्रतिमानीकरण की ओर लोगों का ध्यान नहीं गया । इस युग के कवियों ने अनुप्रास-चमत्कार और ध्वनि-प्रदर्शन के लिये शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने में भी हिचकिचाहट नहीं दिखाई, इसलिए भी भाषा का प्रतिमानीकरण न हो सका ।

रीतिकालीन साहित्य का यह सामान्य परिचय इस बात का साक्षी है कि रीतिकाल में जहाँ एकरसता तथा भाव-व्यंजना की एक प्रकार की विधागत उदासी है, वहीं शृंगार और ऐसा शृंगार भी है जो बिना किसी हिचकिचाहट के सहज मानवीय महत्त्व का परिचायक हैं । रहस्यानंद या ब्रह्मानंद से रसानंद की ओर उन्मुख होना कम महत्त्व की बात इस दृष्टि से नहीं है कि हिंदी-साहित्य में बाद में जो मानवीय स्वर लोक-जीवन में व्याप्त हो समस्त राग-विरागों को लेकर साहित्य में मुखरित

हुआ, उसका कामात्मक उत्स यहां प्रारंभ होता है। भले ही जीवन की तथा प्रकृति के विविध रूपों एवं अंगों की विविधता इस युग के साहित्य में न मिले तो भी जिस एक अंग विशेष के विषय में इस युग में सृष्टि की गई है, उसमें एक श्रेष्ठ शिखर तक उस युग के कवि पहुँचे हैं, इसमें संदेह के लिये स्थान भी नहीं है। बारीक कारीगरी के इस युग में काव्य में भी वही सामती वृत्ति-प्रवृत्ति और बारीकी है जो तत्कालीन युग का प्रतीक है।

रीति-काव्य

संस्कृत में जिस वस्तु को अलंकार शास्त्र या काव्यशास्त्र की संज्ञा दी जाती है उसे हिंदी में रीति-शास्त्र के नाम से सम्बोधित किया जाता है। हिन्दी का यह अपना प्रयुक्त शब्द है। इस शब्द का प्रयोग रीति-काल में ही अनेक कवियों द्वारा किया गया, जिसमें देव ने अपनी पुस्तक 'शब्द-रसायन' में लिखा है: "अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि-रीति"। भिखारीदास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में लिखा है कि 'काव्य की रीति सिखी, सुक बीन सों'। पद्माकर और प्रताप साहि ने कवित्त-रीति और अलंकार रीति आदि शब्दों को प्रयुक्त किया है तथा बाद में तो रीतिकाल के अन्तिम समय में प्राय: इस शब्द से उस युग के सभी कवि पूर्णत: परिचित थे। रीति का अर्थ सामान्य भाषा में होता है प्रकार, और रीति-काव्य का यदि शाब्दिक अर्थ लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि काव्य-रचना का ढंग या प्रकार। किन्तु हिंदी में यह शब्द बड़े व्यापक रूप में गृहीत हुआ है। काव्य-रचना-सम्बन्धी नियमों की व्याख्या की जाती है तो उसे रीति-ग्रंथ और जब उन नियमों के अनुसार काव्य-रचना की जाती है तो उसे रीति-काव्य की संज्ञा दी जाती है। आधुनिक युग में मिश्रबन्धुओं ने इस शब्द की बड़ी ही व्यापक व्याख्या की है किन्तु इस [illegible] रूप में इसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही है। बाद के लोगों ने तो शुक्लजी के मार्ग का अनुगमन मात्र ही किया है।

जो रचनाएँ लक्षण और लक्ष्य दोनों रूप में प्रकट हुई हैं उन्हें

लक्षण ग्रन्थ और जो केवल रचना के विधानों को आदर्श मानकर लिखी गयी हैं उन्हें लक्ष्य ग्रन्थ के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

साहित्य-प्रेरणा के स्रोत

संस्कृत, प्राकृत और पूर्ववर्ती हिंदी साहित्य से शृंगार काव्य की परंपरा इस युग के साहित्यकारों को प्राप्त हुई, जिसका पल्लवन उन्होंने किया। कालिदास और श्रीहर्ष संस्कृत के महामेधावी साहित्यकार हैं, जिनकी रचनाओं ने शृंगार की अनुपम धारा प्रवाहित की। पर उनके शृंगार में एकान्तिकता नहीं, लोककल्याणिनी समाहारदृष्टि तथा दार्शनिक चिन्तन का भी प्रभाव नहीं था। अमरुशतक तथा आर्या-सप्तशती भी इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। दुर्गा सप्तशती, चण्डी-शतक, वक्रोक्ति पंचाशिका, कृष्ण-लीलामृत आदि अनेक ऐसी कृतियां हैं जो काम और यौन के शृंगारिक पहलू का उद्घाटन करती हैं। यहाँ-वहाँ जयवल्लभ और हेमचन्द्र की रचनाओं में शृंगारिक वर्णन मिलता है। चौदहवीं शताब्दी के पूर्व तक रचे गए काव्य में, चाहे वह किसी भी भाषा में रचे गये हों, इस वस्तु का स्पष्ट निर्देष मिलता है। पूर्वी बिहार और बंगाल में राधाकृष्ण की भक्ति जिस रूप में विकसित हुई, जयदेव की रचनाएं और विद्यापति के गीत उसके प्रमाण हैं। चंद की रचनाओं में भी इस बात का स्पष्ट आभास है कि रीति की नीति से वे भी परिचित थे। नखशिख का वर्णन उन्होंने भी किया है, किंतु यह संकेत मात्र ही है। विद्यापति में तो इन्द्रिय-विलास का सौन्दर्य स्पष्ट हो उठता है। यद्यपि केशव ही रीतिकाव्य के प्रथम प्रवर्त्तक हुए, पर सं० १५६८ में प्रकाशित कृपाराम की हिततरंगिणी इस परम्परा का स्पष्ट रूप से आभास देती है। साथ ही इस बात का भी उन्होंने वर्णन किया है कि उनके पूर्ववर्ती कवि भी शृंगार-रस का वर्णन बड़े विस्तार के साथ कर चुके हैं। सूर ने भी अपनी 'शृंगार-लहरी' में नायिका-भेद तथा वियोग और संयोग शृंगार के द्वारा इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का परिचय दिया है। रीति के प्रभाव से प्रभावित हो महाकवि तुलसीदास ने बरवैरामायण की रचना की। उनके उपरान्त रहीम द्वारा नायिका-भेद पर लिखित सुंदर ग्रंथ 'बरवै-नायिका-भेद' तो है ही।

नंददास ने 'रस-मंजरी' में, जो भानुदत्त की 'रस-मंजरी' पर आधृत है, वनिता-भेद विशद रूप में सुन्दर ढंग से वर्णित किया है। केशव इसके प्रथम प्रवर्तक हुए। उन्होंने कविप्रिया और रसिकप्रिया के द्वारा रस की इस धारा को प्रवाहित किया। वास्तव में चिन्तामणि के बाद ही यह धारा हिन्दी में व्यापक हुई, फूली-फली और प्रवधित हुई, क्योंकि उस युग में सभी परिस्थितियाँ चारों ओर से ऐसी धारा के लिए मार्ग बना चुकी थीं। चिन्तामणि ने इस स्रोत को शत-शत धाराओं में प्रवाहित करने का कार्य नहीं किया, अपितु उनके उद्भव को एक सामयिक घटना ही मानना चाहिए।

रीतिशास्त्र

संस्कृत साहित्य के विकास के अन्तिम दिनों में रीतिशास्त्र के प्रायः सभी संप्रदाय स्पष्ट रूप से सामने आ गए थे तथा उनके पीछे व्यापक साहित्य भी निर्मित हो चुका था। ये ही संस्कृत ग्रन्थ, जो विभिन्न संस्कृत के आचार्यों द्वारा समय-समय पर रचे गए थे, हिंदी रीतिकारों के आधार बने। इनमें न तो वह मौलिकता है, न वह सूक्ष्मता, न उतनी व्यापकता ही। इसके पूर्व जो कुछ भी संस्कृत में रचा जा चुका है उस पूर्ण सामग्री का उपयोग भी इस युग के लोग न कर सके। उन्होंने तो अपने को सीमित कर लिया था।

इस युग में अनेक ऐसे रचनाकार हुए जिन्होंने केवल लक्षण ग्रंथों की रचना की है तथा दूसरा वर्ग ऐसा है जिसने लक्षण के साथ-ही-साथ उदाहरण भी दिए हैं। यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि इन तथाकथित आचार्यों की रचनाएँ विद्वानों के लिये नहीं, पढ़े-लिखे पंडितों के लिए नहीं, अपितु रस के ग्राहकों के लिए हुई। संस्कृत रीति का सूक्ष्म निरीक्षण चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। फिर ऐसा समझना कि कोई मौलिक देन जो अत्यंत सूक्ष्म और गूढ़ हो, इस युग के इन आचार्यों की देन है, भ्रम होगा। इन्होंने अपने को संस्कृत के 'चंद्रालोक', 'रस-तरंगिणी', 'रस-मंजरी', 'कुवलयानंद', 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य

दर्पण' तक ही सीमित रखा तथा संस्कृत के गंभीर साहित्य का उपयोग नहीं किया। केशवदास के आदर्श दंडी और केशव मिश्र हुए, जिनकी गहराई में तथा विवेचन-पद्धति में दखल देने का आयास उन्होंने भी नहीं किया। इस दृष्टि से कुलपति सबसे आगे हैं। संभवत: इस क्षेत्र में कुलपति के समान और कोई आगे नहीं बढ़ा। प्रमुख रूप से इन लोगों ने शैली की दृष्टि से काव्यप्रकाश, चन्द्रालोक, रस-मंजरी और शृंगार तिलक की शैली अपनायी। प्राय: चंद्रालोक की भाँति सीमित रूप में अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए गए। इस शैली के अंतर्गत करनेस का श्रुति भूषण पहला ग्रंथ है। कुवलयानंद की स्पष्ट छाया तथा चंद्रालोक के स्पष्ट प्रभाव बाद के या इस शैली ग्रंथों पर हैं। महाराजा जसवंतसिंह ने इस युग की अपनी अमर रचना भाषा-भूषण द्वारा इस शैली का बड़ा ही सुंदर अनुगमन किया है। उनके भाषा-भूषण में, दोहों में लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। दोहे के पहले चरण में तथोक्त अलंकार का लक्षण और दूसरे में उसका उदाहरण दिया गया है। इस पद्धति का अनुकरण बड़े व्यापक रूप से किया गया है। इन अनुकरणकर्ताओं में सुरतिमिश्र, भूपति, शम्भूनाथ, ऋषिनाथ तथा महाराज रामसिंह प्रमुख हैं।

पद्माकर और बैरीसाल यद्यपि इस प्रवाह को आगे बढ़ानेवालों में हैं, फिर भी भाषा-भूषण के केवल अनुकरणकर्ता मात्र वे नहीं कहे जा सकते। इन लोगों ने दोहों के अतिरिक्त अनेक छंदों का समावेश इधर-उधर अपनी रचनाओं में किया। इन्होंने उदाहरण अधिक दिये हैं। अलंकारों की शिक्षा देने के उद्देश्य से निर्मित 'अलंकार रत्नाकर' सबसे अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके रचयिता दलपति और वंशीधर हैं। श्रीपति और सुरति की विवेचना अत्यंत गम्भीर है। इन लोगों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों—केशव, मतिराम, सेनापति, देव, बिहारी आदि की सुदर रचनाएँ भी उदाहरण के लिए ली हैं। इन्होंने अपने भावों को स्पष्ट करने के लिए गद्य का सहारा लिया है। अतएव इस परंपरा के ये कवि विषय स्पष्ट करने की दृष्टि से अत्यंत उपादेय कृति के निर्माता कहे जा सकते हैं। इस वर्ग के लेखकों में मतिराम,

भूषण, दूलह, दत्त, ग्वाल और प्रताप साहि आदि ने उदाहरणों पर बहुत ध्यान दिया, किंतु लक्षण पर अत्यन्त अल्प ध्यान दिया। इन सभी लोगों ने अर्थालंकारों की ओर विशेष झुकाव दिखाया है, शब्दालंकारों की ओर ध्यान नहीं दिया है।

दूसरे ग्रंथ ऐसे हैं जिनमें शृंगार रस से पूर्ण नखशिख और नायिका-भेद का वर्णन किया है। इस वर्ग के लेखकों में केशव, मतिराम, सुखदेव, देव, कवीन्द्र, दास, तोष, प्रवीन और पद्माकर आदि कवि आते हैं। रुद्र के शृंगार तिलक ने तथा भानुदत्त के रस-तरंगिणी और रस-मंजरी ने इन्हें प्रभावित किया था। इस वर्ग के सभी कवि शृंगार रस को रसों का राजा तथा सर्वश्रेष्ठ रस माननेवाले व्यक्ति थे तथा शृंगार ही नायिका-भेद और नखशिख-वर्णन के रूप में इनकी रचनाओं का वर्ण्य विषय है। छाया में इन्होंने शृंगार का वर्णन किया है। केशव एक सीमा तक अन्य रसों को भी—यथा बीभत्स, हास्य, रौद्र, करुण को भी शृंगार के भीतर समेटने से सफल हुए हैं तथा अनेक कवि केवल शृंगार तक ही सीमित रह पाये। रसराज में मतिराम की सारी प्रतिभा शृंगार के वर्णन तक ही सीमित है।

तीसरे ढंग के वे लेखक रीति-परम्परा के अन्तर्गत आते हैं जिन्होंने काव्य के सभी अंगों पर काव्य-प्रकाश को आधार बनाकर प्रभाव डाला है। चिंतामणि के दो ग्रंथ 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्य-विवेक,' कुलपति मिश्र का 'रस-रहस्य', देव का 'रसायन', सुरति का 'काव्य-सिद्धांत', श्रीपति का 'काव्य-सरोज', दास का 'काव्य-निर्णय', सोमनाथ का रसपीयूष', निधिकरन का 'साहित्य-रत्न' और प्रताप साहि का 'काव्यविलास' इस शैली के ग्रंथ हैं। वस्तुतः गम्भीरतापूर्वक काव्य के विभिन्न अंगों, लक्षणों, प्रयोजनों, रस, ध्वनि, अलंकार, नायिका, पिंगल, रीति गुण-दोष आदि का विवेचन इनका प्रमुख ध्येय था। इन्होंने लक्षण के ऊपर विशेष ध्यान दिया है। गद्य का सहारा न लेने से भाव अत्यन्त स्पष्ट करने में वे सहायक न हुए। इन्होंने अपने उद्देश्य में काफी सफलता प्राप्त की। इन्हें आचार्य मानना अधिक उचित नहीं, इन्होंने वास्तव में अपनी क्षमता-भर निर्वाह मात्र किया। इस प्रकार तीन शैली के विभिन्न

कवियों ने इस युग की काव्यधारा को प्रवाहित करने का व्यापक प्रयत्न किया।

इनके अतिरिक्त और रचनाएँ भी हुईं जिनमें अनेक का समाहार तो शृंगार के अन्तर्गत ही किया जा सकता है। भक्ति की रचनाएँ, उदात्त प्रेमी कवियों की स्वच्छन्द रचनाएँ तथा इस युग में नीति-संबंधी रचनाएँ भी की गईं। वीरों की गुणगाथा भी गायी गई। इन रचनाकारों का मुख्य वर्ण्य विषय नायिका-भेद, अलंकार ही रहा। इनकी रचनाओं में संस्कृत के अनेक काव्य-संप्रदायों का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। व्यापक रूप से शृंगार के भीतर ही इनका सब कुछ समेटा जा सकता है।

भक्ति की रचनाएँ, उदात्त प्रेमी कवियों की स्वच्छन्द रचनाएँ तथा इस युग में नीति-संबंधी रचनाएँ भी की गईं। वीरों की गुणगाथा भी गायी गई। इन रचनाकारों का मुख्य वर्ण्य विषय नायिका-भेद, नखशिख और अलंकार ही रहा।

केशवदास

ओरछा के महाराज रामसिंह के छोटे भाई श्री इंद्रजीतसिंह के आश्रय में पले कवि केशवदास एक संस्कृतनिष्ठ ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। घर की परंपरा के कारण इन्हें संस्कृत-साहित्य का विस्तृत और व्यापक अध्ययन करना पड़ा। इनके घर के लोग कई पीढ़ी से राजपंडित होते चले आए थे। अतएव तत्कालीन राजनीतिक और दरबारी ज्ञान भी विरासत के रूप में इन्हें प्राप्त हुआ था। इनके आश्रयदाता पंडितों, विद्वानों तथा कवियों के अनन्य भक्त थे। ओरछा के दरबार में इनका अत्यंत मान और सम्मान था। तत्कालीन शासक इन्हें मित्र, मंत्री और एक महान् कवि के रूप में मानते थे।

यद्यपि केशवदास उस समय उत्पन्न हुए थे जिस समय भक्ति की लहर समस्त भारत में व्याप्त हो चुकी थी, तो भी रीतिकाल के प्रवाह के प्रवर्तक के रूप में केशवदास को ही प्रत्यक्ष उपस्थित किया जा सकता है। इसके पहले अनेक कवि हिंदी में ऐसे हो चुके है, जिन्होंने रस,

अलंकार आदि के ऊपर रचनाएँ की हैं, फिर भी वे प्रयत्न अत्यंत छिछले थे। वास्तव में केशव के बाद ही साहित्य में इसका व्यापक स्रोत प्रवहमान हुआ और रीति-काव्य के प्रवाह के रूप में प्रायः हिंदी के सभी विद्वान इन्हें एकमत से स्वीकार करते हैं। संस्कृत के विद्वान, साहित्य-शास्त्र के ज्ञाता तथा राजनीतिवेत्ता और राजगुरु होने के कारण सहज ही नेतृत्व का गुण उनके भीतर प्रतिष्ठित हो गया था। यद्यपि उनके विचारों से तथा मत से रीतिकाव्य को धारा आकंठ आप्लावित नहीं हुई तो भी उसके प्रवर्तन में रंच मात्र संदेह भी नहीं।

इनके साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य लाला भगवानदीन के अनुसार इनकी प्रामाणिक रचनाएँ सात हैं—रामचंद्रिका, कविप्रिया, रसिकप्रिया विज्ञान गीता, रतन बावनी, वीरदेवसिंह चरित्र और जहाँगीर-जस-चंद्रिका। इस भाँति इन्होंने प्रबंध और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ कीं। लक्षण ग्रंथ और लक्ष्य ग्रंथ भी लिखे। इनकी रचनाओं में शृंगार तो प्रधान है ही, किंतु अन्य रस भी मिलते हैं।

रामचंद्रिका : रामचंद्रिका एक प्रबंध काव्य है जिसमें राम का चरित्र चित्रित किया गया है। ऐसा कहा जाता है कि यह ग्रंथ एक रात मे ही तैयार किया गया था। न तो इसमें कथा का प्रवाह है और न ही वर्ण्य विषयों के प्रति तादात्मय भाव की स्थापना। थोथे पंडितों की भाँति इन्होंने चमत्कारपूर्ण उक्तियों तथा विधानों से इसे पाटने का प्रयत्न किया और उसी ओर विशेष ध्यान दिया। जबरदस्ती अलंकारों का विधान, नाना प्रकार के छंदों का प्रयोग तथा स्थान-स्थान पर वर्णनों के चमत्कार में फँस जाने के कारण कवि सुंदर साहित्य की सृष्टि में सफल नहीं हो सका, क्योंकि इसमें काव्य के प्राण भावपक्ष से कवि विरत दिखाई पड़ता है। भाव-व्यंजना और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह रचना सामान्य कोटि की है, फिर भी संवाद इसके इतने जानदार हुए हैं कि अपने-आप ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है।

कविप्रिया : कविप्रिया अलंकार-ग्रंथ है। कोई विद्वान् कोट कांगड़ा के केशव मिश्र द्वारा रचित 'अलंकार-शेखर' के आधार पर तथा

कोई इसे 'काव्य-कल्प-लता वृत्ति' तथा 'काव्यादर्श' आदि के अनुगमन पर कवि-शिक्षा-संबंधी रचना मानते हैं।

रसिकप्रिया : इस ग्रंथ में रस, नायिका-भेद, हाव-भाव आदि का वर्णन काव्य-परंपरानुसार किया गया है। नायिकाओं का जाति-निर्णय भी इसके अंतर्गत है। शृंगार का विस्तार के साथ अन्य रसों का सामान्य रूप से इसमें वर्णन किया गया है।

'विज्ञान-गीता' में कवि के दार्शनिक विचार संग्रहीत हैं जो गीता की भाँति सहज, स्निग्ध और मार्मिक तो नहीं हैं, फिर भी उससे प्रभावित अवश्य हैं।

'जहाँगीर-जस-चंद्रिका' और 'वीरदेवसिंह चरित्र,' जहाँगीर और वीरसिंह की प्रशस्ति में लिखे गये हैं।

केशवदास शान-शौकत वाले आदमी थे। राजा की तरह रहते थे। ऊपरी चकाचौंध में जीवन का सब-कुछ देखते थे। अतएव उनका काव्य केवल ऊपरी दिखावट में ही रह गया। वह चकाचौंध पैदा कर सकते थे, किंतु जीवन की तह में प्रवेश कर ऐसे काव्य की रचना नहीं कर सकते थे, जिसके द्वारा जन-जीवन में चेतना जाग्रत होती है। वे दिखावटी थे और उनकी कविता प्रायः मर्म को स्पर्श करने वाली न बन सकी। प्रकृति-निरीक्षण उन्होंने नहीं किया। मनुष्य-जीवन का निरीक्षण भी उनका सीमित है, लेकिन कहीं-कहीं जलन, झुँझलाहट और ईर्ष्या की भावना का अत्यंत स्वाभाविक चित्रण उन्होंने किया है। वास्तव में शृंगार की ओर विशेष रूप से आकृष्ट थे, पर मनोवृत्तियों के अंतर में न प्रवेश करने के कारण, उनका साहित्य ऊँचे दर्जे का न बन सका। जहाँ उन्होंने राजनीति की बात कही है, वहाँ वे अवश्य सफल हुए। उदाहरण के लिए अंगद-रावण संवाद लिया जा सकता है। विरह और शोक के वर्णन में भी उन्हें सफलता नहीं मिली। उनके ऐसे वर्णन पाठक से रागात्मक संबंध स्थापित करने में असमर्थ हो जाते हैं। जहाँ उन्होंने अलंकार से अपना ध्यान हटा दिया तथा स्पष्ट रूप से भावों की ओर आए हैं, वहाँ पर निश्चय ही उन्हें सफलता मिली है। कुछ माने में इनकी रचनाएँ अत्यंत क्लिष्ट हैं; अतएव इन्हें कुछ लोगों ने कठिन काव्य का प्रेत

भी कहा है। इनकी भाषा अत्यंत संस्कृतनिष्ठ है। इन्होंने संस्कृत से भी काफी सामग्री ली है। इनकी भाषा बुंदेलखंडी-मिश्रित ब्रज है। इन्होंने बुंदेलखंडी मुहावरों का भी प्रयोग किया है। पांडित्य दिखाने के लिए इन्होंने भाषा में अनेक अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया।

ऐसा ज्ञात होता है कि कवि के रूप में इन्हें काफी ख्याति बहुत पूर्व ही प्राप्त हो चुकी थी और इनके संबंध में यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है :

"सूर-सूर तुलसी ससी, उडगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकाश॥"

शृंगार-कवि

मतिराम : रीतिकाल के रससिद्ध कवियों में मतिराम का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। सहजस्निग्ध-शृंगारपूर्ण भावों को सरल ढंग से उपस्थित करने में इन्होंने अत्यंत सफलता प्राप्त की। ये चिंतामणि और भूषण के भाई बतलाए जाते हैं। लोग इनका जन्म सं० १६७४ के लगभग मानते हैं। इनके ग्रंथों के नाम हैं, 'रसराज', 'ललितललाम', 'छंदसार', 'साहित्यसार' और 'लक्षण-शृंगार'। 'बिहारी-सतसई' के ढंग का 'मतिराम-सतसई' नामक ग्रंथ भी सभा के खोज-विभाग द्वारा प्राप्त किया गया है। इनकी ख्याति 'रसराज' और 'ललितललाम' को लेकर है। 'मतिराम-सतसई' के दोहे शृंगार के उत्कृष्ट नमूने हैं। इसमें शृंगारपूर्ण सहज, स्वाभाविक तथा भावपूर्ण दोहे हैं। यद्यपि बिहारी की भाँति सुंदर अलंकार-योजना उनमें नहीं है, तो भी नैसर्गिक भाव-छटा के कारण ये अत्यंत रसमय बन पड़े हैं।

चिंतामणि : शिवसिंह सेंगर ने चिंतामणि, भूषण, मतिराम और जटाशंकर को सगा भाई माना है। सेंगर जी का आधार जनश्रुति है। जनश्रुति के इस निर्णय पर सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। त्रिपाठीबंधु कानपुर के तिकवाँपुर नामक स्थान के कान्यकुब्ज ब्राह्मण बतलाए जाते हैं और इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी बतलाया जाता है। शुक्ल जी ने इनका जन्म संवत् १६६० और रचनाकाल संवत् १७०० के आसपास माना है। इन्होंने अलंकारों के द्वारा केशव द्वारा प्रतिष्ठित कला

को रस की ओर उन्मुख किया। साथ ही रीति संप्रदाय के काव्य की स्थापना भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से की।

भिखारीदास : आचार्यत्व की दृष्टि से इनकी काफी चर्चा की जाती है, पर शुक्लजी आचार्य के साथ ही इन्हें अच्छा कवि भी मानते हैं। इनकी सर्वाधिक प्रशस्ति काव्यांगों के निरूपण को लेकर है। इन्होंने काव्य के प्रायः सभी विषयों—छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्दशक्ति आदि का विस्तार के साथ वर्णन किया है।

तोषनिधि : ये प्रयाग के शृंगवेरपुर नामक स्थान पर उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम चतुर्भुज शुक्ल था। इनकी कृतियों के नाम हैं, 'सुधानिधि', 'विनयशतक' और 'नखसिख'। 'सुधानिधि' संवत् १७९१ की रचना है तथा इसमें रस और भावों के भेदों का निरूपण किया गया है। कवि के रूप में इनका बहुत नाम है तथा इनकी भाषा सहज, इनकी कल्पना गुंफित और भाव अत्यंत सुलझे हुए हैं।

रसलीन : रसपूर्ण दोहों के रचयिता सैयद गुलाम नबी हिंदी-जगत् में 'रसलीन' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह हरदोई के बिलग्राम नामक गाँव के निवासी थे, जहाँ पर विद्वत्ता की परंपरा बहुत दिनों से चली आ रही थी। इनकी कृतियों के नाम हैं—'अंग-दर्पण', 'रस-प्रबोध', जिनकी रचना क्रमशः संवत् १७९४ और १७९८ में की गई। 'अंग-दर्पण' अपने चमत्कार के कारण काव्य-रसिकों में अत्यंत प्रिय हुआ।

बिहारी : रीतिकाल के सर्वाधिक जनप्रिय एवं उत्कृष्ट काव्य-शिल्पी के रूप में बिहारी की ख्याति समसामयिक कवियों में सबसे अधिक है।

ये ग्वालियर के निकटस्थ बसुआ गोविंदपुर नामक ग्राम में माथुर चौबे परिवार में उत्पन्न हुए थे। इनका शैशव बुंदेलखंड में, इनके यौवन के प्रारंभिक दिन ससुराल में बीते। तत्पश्चात् ये जयपुर महाराज जयसिंह के दरबार के कवि हुए। जयसिंह अपने समय के अत्यंत प्रसिद्ध काव्य-प्रेमी और रसिक राजाओं में से एक थे। बिहारी की ओर राजा जयसिंह का ध्यान आकृष्ट होने के संबंध में एक वार्ता प्रचलित है, जिसके द्वारा कवि की महत्ता का दर्शन होता है। ये जयसिंह के पास उस समय पहुँचे,

जब उन्होंने अपनी नई शादी कर ली थी। जयसिंह नवीन रानी की रूप-माधुरी में इतना अधिक तल्लीन हो गए थे कि राजकाज की ओर आकृष्ट करने में मंत्रियों एवं सरदारों के सभी प्रयत्न विफल हो चुके थे। निराशा के उस वातावरण में सरदारों के लिये बिहारी आशा के संदेश-वाहक बन बैठे। उन्होंने अपना यह दोहा जयसिंह के पास भिजवाया :

नहिं पराग, नहिं मधुर, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बिध्यो, आगे कौन हवाल॥

इस दोहे ने वांछित सफलता प्राप्त की तथा राजा जयसिंह पूर्ववत् अपने राजकाज में लग गए। राजा जयसिंह के आग्रह पर बिहारी ने इसी प्रकार के ७०० दोहे बनाए। कहा जाता है कि राजा जयसिंह ने पुरस्कार के रूप में प्रति दोहा उन्हें एक अशर्फी प्रदान की। 'बिहारी-सतसई' इन्हीं का संग्रह है, जिसका हिंदी को काव्य-कृतियों में प्रमुख स्थान है, इसमें कुल ७२६ दोहे हैं।

बिहारी की संपूर्ण कीर्ति इसी एक पुस्तक पर आधृत है। इस ग्रंथ का हिंदी में कितना अधिक सम्मान है, वह इस तथ्य से ही जाना जा सकता है कि इस ग्रंथ की जितनी अधिक टीकाएँ हुईं, उतनी हिंदी के और किसी ग्रंथ की नहीं। इन टीकाओं में लाला भगवानदीन तथा 'रत्नाकर' जी की टीकाएँ प्रौढ़ मानी जाती हैं। 'बिहारी सतसई' मुक्तक काव्य है।

मूलतः बिहारी शृंगार के कवि हैं और उन्होंने अधिकांश दोहों में शृंगार के संयोग पक्ष का वर्णन किया है। उनके सभी शृंगारिक दोहों के विषय नायिका-भेद, नख-शिख-वर्णन, और षट्-ऋतु हैं जो इस कला की भाव-परंपरा के अंतर्गत आते हैं। इनके अतिरिक्त बिहारी ने अनेक सूक्तियाँ तथा नीति के दोहे भी लिखे हैं।

अनुभावों एवं भावों की सुंदर कलात्मक योजनाओं के साथ उक्ति-कौशल की विशिष्टता एवं कल्पना का सुकुमार माधुर्य इनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलता है। कवि की वस्तु-व्यंजना भी कुछ स्थानों को छोड़कर सर्वत्र औचित्य की रक्षा में सफल रही है।

मानवीय सौंदर्य के साथ-ही-साथ प्राकृतिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति

भी उन्होंने अपनी रचनाओं में की है। सहज, सरल सौंदर्य के साथ-ही-साथ उनकी दृष्टि अलंकृत सौंदर्य पर भी थी, पर उन्होंने सहज, सरल सौंदर्य की अत्यंत मार्मिक अभिव्यक्ति की है। इस कार्य में उक्ति-वैचित्र्य की उन्होंने पर्याप्त सहायता ली है। ऐसी सहज सुंदर अभिव्यक्तियों को निम्नलिखित दोहों में देखा जा सकता है।

बेंदी भाल तँबोल मुख सीस सिलसिले बार।
दृग आँजे राजे खरी एई सहज सिंगार॥
अरुन बरन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार।
चुवति सुरँग रँग सी मनौ चपि बिछियन के भार॥
कहि लहि कौन सकै दुरी सौनजाइ में जाइ।
तन की सहज सुबासना देती जो न बताइ।

बिहारी की भाषा सहज, कोमल, सजी एवं मँजी हुई है। शब्दों का जितना सुंदर, नपा-तुला रूप बिहारी की रचनाओं में मिलता है उतना ब्रजभाषा के किसी अन्य कवि में नहीं। उन्होंने अपनी रचनाओं में इस सुन्दरता, बारीकी के साथ शब्द जड़े हैं कि दूसरे उनके पर्यायी शब्द उस शब्द का स्थान वहाँ ग्रहण नहीं कर सकते। यह उनके शब्द-ज्ञान की क्षमता का परिचायक है।

देव : रीतिकाल के महान् कवि-आचार्यों में देव की भी गणना की जाती है। कुछ समय तक तो हिंदी के प्रारम्भिक आलोचकों में इस बात की होड़ लग गई थी कि देव बड़े हैं या बिहारी। दोनों मान्यताओं के समर्थक किसी-न-किसी रूप में आज भी हिंदी में विराजमान हैं, किंतु इतना निश्चित है कि अनेक कारणों से रीतिकाल के किसी एक कवि को सर्वश्रेष्ठ होने का फतवा नहीं दिया जा सकता। इसमें रंच मात्र भी संदेह नहीं कि देव एक महान् कवि थे और निरन्तर उनकी प्रतिभा काव्य के क्षेत्र में चमकती गई।

ये इटावा के सनाढ्य ब्राह्मण थे और संवत् १७३० में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने १६ वर्ष की अवस्था में ही 'भाव विलास' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया। यद्यपि यह ग्रंथ केशव की 'रसिकप्रिया' के आधार पर ही निर्मित हुआ जान पड़ता है तो भी यह उनकी काव्य-प्रतिभा का परि-

सायक है। उन्हें अन्य कवियों की भाँति कोई महान् आश्रयदाता नहीं प्राप्त था, यह इनके लिए कवि के रूप में वरदान ही समझना चाहिए। जगह-जगह ये घूमते फिरे, जिनका प्रभाव इनके 'जाति-विलास' नामक ग्रंथ में भी दिखाई पड़ता है। कहा जाता है कि इन्होंने ७२ ग्रंथों की रचना कीं; किंतु इनके २५ ही ग्रंथ उपलब्ध हैं, जो इनकी महत्ता के लिए कम नहीं।

इनकी रचनाएँ दो प्रकार की हैं, कवि के रूप में और आचार्य के रूप में। कवि के रूप में भी इनकी दो प्रकार की रचनाएँ हैं। एक तो आसक्ति की, दूसरी 'ब्रह्म-दर्शन पचीसी' और 'तत्त्व-दर्शन पचीसी' विरक्ति की।

विरक्तिवाले पदों में लोक और जीवन से उदास होने की प्रतिक्रिया का दर्शन होता है और शेष ग्रंथों में रीति-परम्परा में वर्णित विषयों का विषय शृंगार ही रखा, किंतु नायिका-भेद में इन्होंने सभी कवियों से बाजी मार ली। षट्ऋतु, नख-शिख और भाव-भेद में भी इन्हें सफलता मिली है।

नायिकाओं के भेद और विभेदों तथा उपभेदों में इन्होंने अपनी शक्ति लगाई है, जिसमें इन्हें सफलता भी मिली। इनकी कविता में कवित्व-शक्ति और मौलिक कल्पनाएँ प्रचुर परिमाण में पायी जाती हैं।

सेनापति : सेनापति ने स्वयं कहा है कि 'सब कबि कान दे सुनत कविताई हैं,' यह उक्ति कवि की कितनी उचित है! जीवन के प्रारम्भिक दिनों में इन्हें राजाश्रय प्राप्त था किन्तु अन्तिम दिनों में जीवन की विडम्बना से पराभूत हो इन्होंने संन्यास धारण कर लिया था। इनका जन्मकाल सं० १६४६ के लगभग माना जाता है। अन्तिम दिनों में यह वृन्दावन में थे, पर थे राम के उपासक। 'कवित्त-रत्नाकर', जिसके कारण काव्य-मर्मज्ञों के भीतर इनका अत्यन्त सम्मान है, संवत् १७०६ में पूरा हुआ था।

इनकी कविताओं में कहीं-कहीं तो अत्यन्त भावुकता दिखलाई पड़ती है। कहीं-कहीं चमत्कार की भी चमक दिखाई पड़ती है। कहीं श्लेष,

कहीं शब्दध्वनि-साम्य की छटा दिखाई पड़ती है। किंतु सभी मनमोहक, सुन्दर, रससिक्त और प्रांजल हैं। कहीं कविता बोझिल नहीं होने पायी है। अनुप्रास और यमक भी सहज सौन्दर्य बढ़ाते ही हैं। सहज सरल ब्रज-भाषा का माधुर्य, अलंकारों का सुन्दर विधान, इनकी भाषा-शक्ति का परिचायक है। भक्ति-सम्बन्धी इनकी रचनाएँ भी सुन्दर हैं। चमत्कार से भरी हुई हैं। उन्होंने षट्ऋतुओं के वर्णन में बडी सफलता पायी है। ऋतुओं को उद्दीपन और आलंबन दोनों रूप में इन्होंने गृहीत किया है। इनका एक और ग्रंथ 'काव्य-कल्पद्रुम' भी विख्यात है। प्रकृति का इतना सुन्दर वर्णन रीतिकाल के किसी कवि ने नहीं किया है।

पद्माकर : रीतिकाल के अन्तिम लेवे के कवियों में जनप्रियता तथा मूर्ति-विधायिनी कल्पना की दृष्टि से पद्माकर अंतिम महान् कवि हुए तथा रीति-काल की परम्परा के महान् निर्वाहक के रूप में भी उन्हें प्रतिष्ठित किया जा सकता है। ये बाँदा के मोहनलाल भट्ट तैलंग ब्राह्मण के घर में उत्पन्न हुए। अपने पिता से विरासत के रूप में उन्हें काव्य-मर्यादा और पांडित्य प्राप्त हुआ। इनके पिता नागपुर, पन्ना और जयपुर-नरेश द्वारा सम्मानित हो चुके थे तथा कविराज-शिरोमणि की उपाधि से विभूषित थे। सं० १८१० में पद्माकर उत्पन्न हुए और १८९० में कानपुर में इनका देहाव-सान हुआ। हिम्मत बहादुर 'गोसाई अनूपगिरि' के नाम पर सं० १८४९ में वहाँ 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' नाम के ग्रंथ की रचना की। इसके अतिरिक्त सितारा के इतिहासप्रसिद्ध महाराज राघोबा, जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह के यहाँ बहुत दिनों तक रहे और जब प्रतापसिंह के पुत्र जगतसिंह गद्दी पर बैठे तो वहीं पर अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'जगद्विनोद' की रचना की। 'पद्माभरण' के निर्माण का भी अनुमान जयपुर में ही किया जाता है। जयपुर महाराज जगतसिंह की मृत्यु के बाद, ऐसा लगता है, कि उनका वह सम्मान वहाँ नहीं हुआ, जो पहले होता था, अतएव दौलतराव सिंधिया ग्वालियर-नरेश के आश्रय में इन्होंने अपना काल-यापन आरंभ किया। 'हितोपदेश' का भाषानुवाद इन्होंने वहीं पर किया और पुनः वहाँ से भी अनुमानतः न पटने के कारण बूंदी होते हुए बाँदा चले आए। जीवन का

प्रारम्भ और मध्य जिस दर्पपूर्ण वातावरण में इनका व्यतीत हुआ था उसकी परम्परा वृद्धापन में न साथ दे पायी। रोगग्रस्त भी ये हुए। वहीं पर विराग भक्ति से इनका हृदय प्लावित हो उठा और इन्होंने 'प्रबोध पचासा' नामक ग्रंथ की रचना की। पुन: जीवन के अंतिम सात वर्ष कानपुर में पतित-पावनी गंगा के किनारे व्यतीत किये। सुप्रसिद्ध 'गंगा लहरी' यहीं निर्मित हुई। इनका एक और ग्रंथ वाल्मीकि-रामायण पर आधृत है। बताया जाता है कि यह दोहे और चौपाइयों में है। पर इसमें पद्माकर की प्रतिभा का आभास तक नहीं मिलता। इसलिए अनेक विद्वान् ऐसा अनुमान करते हैं कि यह उनकी कृति नहीं है।

इन्होंने मुक्तक और प्रबन्ध दोनों ढंग की रचनाएँ कीं, किंतु यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि प्रबंध काव्य इनके सामान्य ढंग के ही हैं। मुक्तकों में इन्होंने विशेष सफलता प्राप्त की।

सजीव मूर्तमयी कल्पना इनके मुक्तक पदों में सर्वत्र मिलती है पर अनुप्रास का व्यामोह कहीं-कहीं उसे बादल की भाँति ढँक लेता है। अनुप्रास के कारण कहीं-कहीं इनकी रचनाओं में नाद-सौन्दर्य का सुंदर दर्शन भी होता है। भाषा के ये पंडित थे और इनका भाषा पर अधिकार भी था। इनकी भाषा में एक सुमधुर प्रभाव है, और छन्द-विधान में सुन्दर रचना-कौशल। इनकी भाषा विविध प्रभावकारिणी है। कहीं उसके सौष्ठव से रस, कहीं रूप और कहीं नाद मूर्त होता है। इनके काव्य का विषय रीति-परिपाटी से गृहीत शृंगार है। इसमें कहीं-कहीं वे मर्यादा की सीमा का अतिक्रमण कर बैठे हैं। सरलता की दृष्टि से रीति-अध्ययन के लिए 'जगद्विनोद' एवं 'पद्माभरण' अत्यंन्त सुन्दर बन पड़े हैं। जहाँ पर इनका कवि-हृदय संयत अनुप्रासों के बीच उमड़ पड़ा है, वहाँ निश्चय ही रचनाएँ अत्यन्त उत्कृष्ट हो गई हैं।

प्रेम के गायक कवि

आलम और शेख : आलम रीतिकाल के उन कवियों में हैं जिन्होंने अपने जीवन की अनुभूतियों को अपने काव्य का विषय बनाया। ये प्रेम

के उन्मुक्त गायक थे और संयोग से इन्हें जीवन-संगिनी भी शेख नाम की रंगरेजिन मिल गई थी जो स्वयं कविता करती थी। बहुत-सी कविताओं को तो दोनों ने मिलकर लिखा और दोनों ने काव्य में अपने उपमानों में आलम और शेख का प्रयोग किया। आलम की चार रचनाएँ उपलब्ध हैं, माधवानल-कामकंदला, आलम केलि, श्याम-सनेही और सुदामा चरित्र।

घन आनंद : इनका जीवनकाल संवत् १६४६ से सं० १७९६ तक बताया जाता है। यह दिल्ली के बादशाह मोहम्मदशाह के मीर मुंशी कहे जाते हैं। अंत में वृन्दाबन जाकर इन्होंने निबार्क वैष्णव संप्रदाय में अपने को दीक्षित कर लिया और विरक्त भाव से वहीं रहने लगे।

हृदय की अनुभूति का मूर्त रूप मधुपूरित स्निग्ध भाषा में पिरोकर घन आनंद ने अपने साहित्य में जिस अभिव्यंजना-वृत्ति का सक्षम परिचय दिया है, वह अनूठा है। अर्थ-गांभीर्य की दृष्टि से भी वह लीक पर नहीं चले। उन्होंने नयी-नयी उद्‌भावनाएँ कीं। वियोग संबंधी उनकी रचनाएँ अपनी सानी नहीं रखतीं। इनके वर्णनों में ऊपरी टीम-टाम नहीं, अंतर में पहुँचने की, अंतर्वृत्तियों को उद्‌घाटित करने की तथा अंतर-सौंदर्य को मूर्त करने की अतुलनीय क्षमता है।

बोधा : शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्म सं० १८०४ माना है। कुछ लोग १८०४ उनका काव्य-काल मानते हैं। कवि बोधा राजापुर (बांदा) के सरयूपारीण ब्राह्मण थे तथा पन्ना दरबार के रत्न थे। संस्कृत और फारसी का भी इन्हें ज्ञान था। वहीं दरबार में 'सुभान' वेश्या पर आसक्त हो गये। फिर भयवश पन्ना से नौ-दो-ग्यारह हो गये। अंततोगत्वा छह महीने के बाद पुन: वापस लौटे और प्रवास में इन्होंने 'विरह-वारीश' की रचना की। 'इश्कनामा' नाम की इनकी एक और पुस्तक प्रसिद्ध है।

राष्ट्रीय कवि-परम्परा

भूषण : आचार्य रामचंद्र शुक्ल इनका जीवनकाल संवत् १६७० और मृत्यु १७७२ मानते हैं तथा इन्हें चिंतामणि और मतिराम का भाई बताते हैं। इनके असली नाम का प्रामाणिक रूप से अभी तक पता नहीं चला है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र इनका नाम घनश्याम मानते हैं।

'भूषण' इनकी उपाधि थी जिसे हृदयराम सोलंकी के पुत्र रुद्रराम सोलंकी ने इन्हें दी थी।

यह कई राजाओं के आश्रय में पले थे। पन्ना के महाराजा छत्रसाल ने तो इनकी पालकी पर ही कन्धा लगाकर अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया और स्वयं इनको कहना पड़ा—"शिवा को बखानौं के बखानौं छत्रसाल को।" अन्त में यह महाराज शिवाजी के दरबार में रहे और शिवाजी ने न केवल इनका सम्मान किया अपितु इनके एक-एक छंद पर इन्हें लाखों रुपये पुरस्कार के रूप में दिये।

'शिवराज भूषण' की, यह कहकर कि 'समझ कविन को पन्थ', इन्होंने रचना की। यद्यपि राजाश्रयों में इनका साहित्य निर्मित हुआ किंतु लोक-रंजन और लोक-कल्याण की जो भावना इनके भीतर पायी जाती है वह इस बात का प्रतीक है कि कलि के कविराजों की कलई से ये परिचित थे। वे अत्यंत जीवट के व्यक्ति तथा अनुभूतियों से परिचित, मौलिक रचना करने वाले साहित्यिक थे। इतना तो मानना होगा कि प्रारंभ में इन्होंने शृंगारिक रचनाएँ कीं किन्तु जब ये युग-चेतना से परिचित हुए और इन्हें यह लगा कि इन्होंने कोई सामाजिक पाप किया है तो इनके काव्य की दिशा ऐसी मुड़ी जो युग की काव्य गंगा का प्रतीक बन बैठी।

जिन रचनाओं के कारण भूषण का नाम लोगों की जबान पर रहता है अथवा जिन कृतियों के कारण ये हिंदी के महाकवि समझे जाते हैं वे उनकी वीर-रस की कविताएँ हैं। उनकी रचनाएँ न केवल भावनाओं की दृष्टि से अपने युग से बिलकुल अलग हैं अपितु इस दृष्टि से भी वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जहाँ उस युग के कवि साधारण आश्रयदाताओं की चाटुकारिता में शब्दों की होली जलाया करते थे, वहीं पर इन्होंने ऐसे आश्रयदाताओं की शरण ली जो न केवल लोकनायक थे अपितु उनके प्रति आज भी हिंदू जनता में इतना सम्मान व्याप्त है कि कोई भी विशेषण वह उनके प्रति प्रयुक्त करने में अतिशयोक्ति का अनुभव नहीं करती। उनको इन्होंने अपने काव्य का नायक बनाया। कविवर भूषण के छः ग्रंथ—शिवराज भूषण, शिवा बावनी, छत्रसाल-दशक, भूषण उल्लास, दूषण उल्लास, और भूषण हजारा बताये जाते हैं। 'शिवराज भूषण'

इनका सबसे वृहद् ग्रंथ है जिसमें रीतिकाल की परम्परा के अनुसार अलंकारों का उदाहरण दिया गया है। इस अलंकार ग्रन्थ में लक्षण के बाद पद्यों में शिवाजी की प्रशंसा के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। वह युग का प्रभाव था। यद्यपि उनके लक्षण सुंदर नहीं बन पाये हैं, फिर भी उदाहरण में दी गई कविताएँ काफी अच्छी हैं। शिवा-बावनी भी इनके बावन छन्दों का संग्रह है। 'छत्रसाल दशक' बुंदेला राजपूत शासक छत्रसाल की प्रशस्ति में रचा गया है। उनकी शेष तीन रचनाएँ अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी हैं।

वे ऐसे जीव थे कि वे स्वयं युद्ध के मोर्चे पर जाते थे। वहाँ की परिस्थिति को अपनी आँखों से देखते थे और फिर उसे छंदों में पिरोते थे। अतएव उनमें सत्य-निरीक्षण, ओज और वीरता का परिपाक होना स्वाभाविक ही है। उनकी कविता का बड़ा व्यापक प्रचार चारों ओर हुआ। 'शिवाबावनी' की रचनाएँ उनकी इतनी ओजस्विनी हैं कि उन्हें पढ़ते-पढ़ते रोम-रोम से ओज टपक पड़ता है। यद्यपि इनकी भाषा अव्यवस्थित है, यत्र-तत्र व्याकरण और वाक्य-रचना की गड़बड़ियाँ हैं तथा शब्द बहुत तोड़े-मरोड़े गये हैं, फिर भी उस युग में लिखी गयी उनकी रचनाएँ इतनी ओजपूर्ण हैं जिसकी समता का दूसरा कोई कवि दिखाई नहीं देता।

लालकवि : बुन्देलखण्ड के महाराज छत्रसाल के दरबारी कवि थे और उन्हीं के आदेश से इन्होंने 'छत्रप्रकाश' प्रबंध काव्य, जिसे छत्रसाल का जीवन-चरित्र भी कह सकते हैं, लिखा। इसमे वर्णित घटनाएँ ऐतिहासिक सत्य पर आधृत हैं तथा केवल चाटुकारिता-प्रदर्शन के लिए इसका निर्माण नहीं हुआ है बल्कि सत्य की अभिव्यंजना इसका प्रधान गुण है। डॉ० श्यामसुंदर दास ने इन्हें अपने युग का सर्वाधिक तत्त्वग्राही प्रवत्ति वाला कवि माना है। सवत् १७६४ तक का वर्णन इस ग्रंथ में मिलता है। इससे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि संवत् १७६५ के कुछ बाद ही छत्रसाल के समय में ही इस कवि का पर्यवसान हो चुका था। इस ग्रंथ में स्वाभाविकता है और है प्रबंध-कौशल।

आधुनिक काल

नव-युग का आरम्भ

हिंदी गद्य

यद्यपि इस काल में खड़ी बोली का बड़े व्यापक पैमाने पर प्रयोग आरम्भ हुआ पर यह परम्परा अभिनव नहीं। भारतवर्ष में पहले भी समय-समय पर गद्य-लेखन का कार्य होता रहा। यह निश्चय ही सत्य है कि इसके पूर्व तक हमारे यहाँ गद्य-साहित्य का निर्माण उल्लेख-योग्य नहीं हुआ।

गद्य की परंपरा

रीतिकाल में गद्य की कृतियों के संबंध में स्थान-स्थान पर उल्लेख किया जा चुका है। ब्रजभाषा के साहित्य में या तो वैष्णव वार्ताएँ गद्य में मिलती हैं या टीकाएँ। कहीं-कहीं रीतिकाल में रीतिग्रंथों में भावों को स्पष्ट करने के लिए भी गद्य का प्रयोग किया गया है। साम्प्रदायिक रूप से निर्मित, ब्रजभाषा के गद्य का प्रथम आभास, गोरखनाथ द्वारा रची रचना में मिलता है। कुछ लोग इसे गोरखनाथ की रची रचना नहीं मानते।

वैष्णव-संप्रदाय में भी गद्य का प्रयोग भक्तियुग की रचनाओं में मिलता है। विट्ठलनाथजी की रचना शृंगार-रसमण्डन अव्यवस्थित ब्रजभाषा में लिखी पहली कृति मानी जाती है। उसके बाद 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' का वैष्णव साहित्य में, जो ब्रजभाषा और राजस्थानी के सम्पुट से अभिभूत है, उल्लेख किया जाता है। इन ग्रंथों के निर्माणकर्त्ता गोकुलदास बताये जाते हैं। इनमें पर्याप्त प्रौढ़ता भी है। इसके पश्चात् टीकाओं का युग आता है और यह क्रम 'बिहारी सतसई' की टीकाओं से आरम्भ होकर संवत् १९१० तक चलता रहता है।

बोलियों में भी गद्य-साहित्य का निर्माण हुआ। राजस्थानी में भी ख्यात, बात और वार्ता साहित्य का निर्माण हुआ। दरबारों में किस्सा-कहानियों का निर्माण चलता रहा। बघेलखण्ड में महाराज विश्वास सिंह रींवा ने कबीर पर टीका लिखी। रीतिग्रंथों में आये गद्य का उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। मैथिली भाषा में भी गद्य की रचना इतस्ततः मिलती है।

यद्यपि देखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि किसी-न-किसी रूप में गद्य की परम्परा हमारे देश में बनी रही, तो भी वास्तव में ब्रजभाषा में पद्य-साहित्य की ही व्यापकता है, कभी-कभी गद्य लिख दिया जाया करता है। गद्य के अनुरूप स्थिति का निर्माण नहीं हुआ था। गद्य में जिससे शैली का प्रवर्त्तन हुआ, व्यापक रूप से जिसके कारण यह कहा जा सकता है कि गद्य के युग का निर्माण जिस बोली के द्वारा हुआ, वह खड़ी बोली है। इस खड़ी बोली की प्रतिष्ठा व्यापक रूप से इस युग में आरंभ हुई। गद्य का विकास व्यापक रूप से अंग्रेजी शासन में अनुकूल परिस्थितियों और वातावरण के कारण बढ़ा, पर इसे अंग्रेजों की देन मानना बहुत बड़ी भूल होगी। संतों की बानियों में, सिद्धों के ग्रंथों में खड़ी बोली का हलका आभास निश्चित रूप से मिलता है। मुग़लों के समय के पूर्व ही खड़ी बोली का काफी प्रचलन था। खुसरो की मुकरियाँ और पहेलियाँ, औलियाँ द्वारा रचा 'हिंदवी भाषा का साहित्य' इसके उदाहरण हैं। दक्षिण में भी शाह मीरान बीजापुरी, शाह बुरहान खान, सैयद मुहम्मद गेसूदराज द्वारा रचित खड़ी बोली के गद्य के नमूने अब भी उपलब्ध हैं।

गंग कवि की 'चंद छंद वर्णन की महिमा' मुगलकालीन खड़ी बोली की रचना बताई जाती है। उसके बाद विकास की यह परंपरा क्षीणप्राय लगती है। अठारहवीं सदी के पश्चात् खड़ी बोली का व्यापक प्रचार चारों ओर होता दीख पड़ता है। संवत् १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी और सं० १८१८ में पं० दौलतराम की रचनाएँ क्रमशः योग-वाशिष्ठ तथा रविषेणाचार्य कृत 'जैन पद्मपुराण' का हिंदी अनुवाद सामने आता है। अनुवाद प्रथम की भाषा परिमार्जित है। दूसरे में ब्रजभाषा का पुट है। निरंजनी की भाषा अपने समय से बहुत आगे है।

ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होने लगा, देश से शासक यह अनुभव करने लगे कि प्रचलित लोक-भाषा की शिक्षा संपर्क-स्थापन के लिये परम आवश्यक है। सं० १८६० में अंग्रेजी के क्लर्क तैयार करने के प्रमुख कारखाने फोर्ट विलियम कॉलेज, कलकत्ता में हिंदी-उर्दू के अध्यापक जान गिल क्राइट ने लोकप्रिय पौराणिक पुस्तकों के निर्माण का आयोजन किया। उक्त व्यवस्था में हिंदी और उर्दू के लिये अलग-अलग प्रबंध किया गया। इस युग में गद्य के नव-निर्माण के बृहद् आयोजन में जिन सज्जनों ने भाग लिया उनमें मुंशी सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल जी और सदल मिश्र महत्त्व के हैं।

मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' (सं० १८०३-१८८१) : मुंशीजी दिल्ली-निवासी थे, चुनार में सरकारी पद पर थे और इनके जीवन के अन्तिम दिन प्रयाग में भगवत्-भजन में व्यतीत हुए। भाषा की दृष्टि से इनका महत्त्व है। उर्दू और फारसी के शायर होते हुए भी हिंदी-गद्य में उन्होंने तत्कालीन पडिताऊ भाषा को व्यवहृत किया। भाषा में निखार एवं संस्कृत के तत्सम शब्दों का ग्रहण भविष्य के पथ-निर्माण में सहायक 'सुखसागर' के अतिरिक्त मुंशीजी की एक अधूरी कृति और मिलती है, जो विष्णुपुराण के आधार पर है। मुंशीजी के साहित्यिक निर्माण की सबसे बड़ी विशेषता—जहाँ तक भावना का प्रश्न है, उनकी स्वतः प्रेरणा थी।

मुंशी इंशाअल्ला खाँ (मृत्यु सं० १८७५) : फोर्ट विलियम कॉलेज के बाहर उन्मुक्त रूप से साहित्य-रचना करने वालों में इंशाअल्ला खाँ ने अपना योगदान—उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी लिखकर किया। वे ऐसी सहज भाषा का प्रचलित पद्धति पर निर्माण चाहते थे, जिसमें फारसी और संस्कृत से दूर, जन-सामान्य में प्रचलित भाषा को साहित्य की भाषा बनाया जाय। उक्त पुस्तक द्वारा उस कार्य के लिये उन्होंने अपनी भावनाओं को मूर्त किया।

जीवन का प्रारम्भ इन्होंने दिल्ली में किया। लखनऊ में भी इनके दिन अच्छी तरह व्यतीत हुए, पर अंत के दिन अत्यंत दुःखदायी रहे।

लल्लू जी लाल (सं० १८२०—सं० १८८२) : फोर्ट विलियम कॉलेज के संरक्षण में ब्रजभाषा से प्रभावित गद्य-रचनाकार के रूप में लल्लूलाल जी का स्मरण किया जाता है। इन्होंने सं० १८६० में 'प्रेम सागर की रचना की। देशी शब्दों से अपने गद्य को बनाया है, पर फारसी और तुर्की के शब्द भी बीच-बीच में आ गये हैं, व्यासों की अतिरंजना शैली मे उबा देने वाला ब्रजभाषा से प्रभावित गद्य इनके द्वारा निर्मित हुआ 'लालचंद्रिका' के संपादक एवं टीकाकार के रूप में इनका महत्त्व है।

पंडित सदल मिश्र : फोर्ट विलियम कॉलेज में लल्लू जी के साथ ह बिहार-निवासी पं० सदल मिश्र का योग भी हिन्दी गद्य-निर्माण के लिए लिया गया। इन्होंने व्यावहारिक खड़ी बोली का रूप लिया। पूरबी बोल तथा ब्रजभाषा के प्रभाव से ये अपने को पूर्णतया न बचा पाए।

इन चार कृतिकारों में से गद्य के नव-निर्माण की दिशा में बाद के लेखकों ने कुछ अंशों तक मुंशीजी और सदल मिश्र के गद्य का संस्कृत रूप ग्रहण किया।

गद्य के नव-निर्माण की व्यापक दिशा

इसके पश्चात् संवत् १९१५ तक गद्य के क्षेत्र में कोई ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य होता नहीं दीखता। ईसाई धर्म-प्रचारक सं० १८६० से ही गद्य का उपयोग अपने धर्म-प्रचार के कार्य में करते रहे। ईसाई ग्रंथ के अनुवाद का क्रम संवत् १८७५ तक चलता रहा और उनका आदर्श मुंशी सदासुखलाल और लल्लूलाल की भाषा रही। अंग्रेज़ी की शिक्षा व्यापक हो गई थी। उसका परिणाम यह हुआ कि संवत् १८९० में आगरा में पादरियों ने बुक सोसाइटी की स्थापना की और इन्होंने अनेक शिक्षा-संबंधी ग्रंथ प्रकाशित किये। ये सभी पुस्तकें शिक्षा-संबंधी थीं। ईसाइयों के धार्मिक आंदोलन के परिणामस्वरूप हिंदुओं में व्यापक चेतना जगी और युग के अनुरूप नये आलंबनों का सहारा लेकर साहित्य प्रस्तुत करना आरंभ किया गया। संवत् १८७२ में वेदांत-सूत्रों का हिंदी भाष्य प्रकाशित हुआ।

हिंदी पत्रकारिता इसी युग से आरंभ हुई। इसका प्रवर्तन कलकत्ता

में पंडित युगलकिशोर शुक्ल द्वारा हुआ। संवत् १८८३ में हिंदी का पहला संवाद पत्र 'उदंड मार्तंड' नाम से निकला। संवत् १८८६ में राममोहनराय की प्रेरणा से 'बंगदूत' नामक एक पत्र और निकला। पहला पत्र साप्ताहिक था और एक वर्ष के भीतर ही बंद हो गया। इसके पश्चात् संवत् १८९१ में 'प्रजामित्र' और संवत् १९०१ में राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद का 'बनारस' नामक पत्र प्रकाशित हुआ। 'बनारस' का उद्देश्य भाषा का प्रचार था। इसके संपादक तारामोहन मित्र थे।

उधर अंग्रेजों की भेद-भाव की नीति के कारण तथा सर सैयद अहमद खाँ के प्रयत्नों के प्रतिक्रिया के फलस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में हिंदी का व्यापक प्रसार हुआ। संवत् १८९३ में अदालती काम प्रचलित भाषाओं में करने के लिए इस्तहारनामे निकले। पर अरबी और फारसी वालों के कुचक्र से उत्तरप्रदेश की भाषा उर्दू हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग अरबी, फारसी की ओर झुकते गये। किंतु इस दशा में एक नवीन चेतना का संदेश लेकर संवत् १९०१ में राजा शिवप्रसाद सितारे हिंदी आये। उन्होंने बड़े मनोयोग से इस दिशा में कार्य किया।

राजा शिवप्रसाद : जब राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद संवत् १९१३ में शिक्षा-विभाग में नियुक्त हुए उस समय हिंदी का व्यापक विरोध था। अंग्रेज उर्दूपरस्त थे। यद्यपि उर्दू का रंग उन पर भी था तो भी देवनागरी लिपि के वे प्रेमी थे। सरकारी पद, राजा का व्यामोह सभी कुछ उनको सत्य मार्ग पर चलने से रोक रहा था। उनका भाषा पर ऐसा अधिकार था कि प्रवाहपूर्ण सहज हिंदी में रचना कर सकते थे, उन्होंने किया भी कुछ अंशों में वैसा ही, पर उनमें नायक होने का माद्दा नहीं था क्योंकि वे अंग्रेज़ी-परस्त भी थे। 'मानवधर्म सार', 'योगवाशिष्ठ के चुने हुए श्लोक', 'उपनिषद्-सार', 'भूगोल हस्तामलक', 'आलसियों का कोड़ा', 'वर्णमाला', 'राजा भोज का सपना' और 'विद्यांकुर आदि रचनाएँ उनकी हिंदी रचना-शक्ति की परिचायिका हैं। दिनोत्तर उनका झुकाव उर्दू और फारसी की ओर होता गया। देवनागरी लिपि में उर्दू-लेखन का कार्य उन्होंने अपना लिया। परिणाम यह हुआ कि 'इतिहास तिमिर नाशक' नामक उनके बाद के लिखे गये ग्रंथ में फारसी शब्दों की प्रधानता है।

इस अनैसर्गिक भाषा के लिये राजासाहब की पीठ भी अंग्रेजों द्वारा ठोंकी गयी। हिंदी ज्ञाता अंग्रेज उनमें प्रमुख थे। राजासाहब ने उर्दू के प्रचार और प्रसार में सहायता पहुँचायी—इस तथ्य को अंग्रेज़ लोगों ने राजासाहब के प्रसंग में अनेक बार उल्लिखित भी किया है। फिर भी राजासाहब देवनागरी के प्रचार में सहायक हुए—इसमें संदेह ही नहीं किया जा सकता।

प्रतिक्रिया : उनके अनगढ़ प्रयत्नों तथा उर्दू-परस्ती की प्रतिक्रिया काशी में हुई। इस प्रयत्नों को, जो राष्ट्र-हित तथा हिंदी हित-विरोधी थे, आगे बढ़ने देना उसका गला घोंटने वाला था। ऐसी स्थिति में व्यापक जाग्रति का उद्भव हुआ। सरकारी शिक्षा विभाग में भी इसकी प्रतिक्रिया वीरेश्वर चक्रवर्ती के ऊपर हुई। राजासाहब की भाषा भी बाद में जानदार नहीं, बनावटी रह गई थी। संवत् १९०७ में 'बनारस' के उत्तर रूप में 'सुधारक' का उदय तारामोहन मित्र आदि के उद्योग से हुआ। सं० १९०९ में आगरा से 'बुद्धिप्रकाश' का प्रकाशन आरंभ हुआ। उसकी भाषा अपने समय के अनुसार व्यवस्थित हिंदी गद्य का अच्छा उदाहरण थी।

सर सैयद अहमद खाँ का अंग्रेज़ों तथा उनके भक्तों की छाया में, कचहरियों से राजभाषा के रूप में हिंदी उखाड़ फेंकी जाने के साथ अब शिक्षा से विलग करने का यत्न चल रहा था। इनके साथ फ्रांस-स्थित हिंदी के अध्यापक गाँसा दाताजी ने भी इसी कार्य में सर सैयद का साथ दिया। पर हिंदी तो जन-मन पर सिक्का जमा चुकी थी। वह जनता की वाणी थी। अतएव इसका उत्तर जनता ने दिया। यह आंदोलन गद्य के निर्माण को लेकर था, पद्य की भाषा परंपरागत ब्रजभाषा ही रही।

राजा लक्ष्मणसिंह : ऐसे ही अवसर पर हिंदी वालों का नेतृत्व राजा लक्ष्मणसिंह ने किया। उनकी भाषा न केवल विशुद्ध हिंदी भाषा थी, अपितु संस्कृत के सहज, सरल प्रवाहमय शब्दों का प्रयोग भी इन्होंने

किया। उनकी रचनाओं में निश्चय ही प्रारम्भिक हिंदी गद्य का वह प्रौढ़ आदर्श प्रतिष्ठित हुआ जिसने भविष्य के लिए द्वार खोल दिया। उनकी शैली भावना-प्रधान है। उनकी प्रमुख कृतियों मे कालिदास-कृत 'मेघदूत', 'शकुन्तला' और 'रघुवंश' का अनुवाद है। लोक में प्रचलित और प्रतिष्ठित अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने में उन्होंने संकोच नही किया। साथ ही इनके गद्य का प्रभाव हिंदी के आगामी विकास के लिए अत्यन्त प्रेरणादायक भी प्रमाणित हुआ।

अन्य गद्यकार

इस युग में इन प्रमुख लेखकों के अतिरिक्त अन्य जिन लोगों ने शिक्षा-प्रसार और अनुवाद के द्वारा हिंदी गद्य को प्राणवान् बनाया, उनमें पडित वंशीधर, पंडित श्री लाल, बिहारीलाल, पंडित बदरीलाल, श्री रामप्रसाद त्रिपाठी, मथुराप्रसाद मिश्र, व्रजवासी दास, शिवशंकर, काशीनाथ खत्री, बाबू नवीनचंद, श्रद्धाराम फुलौरी का महत्त्व का स्थान है।

संवत् १९२५ से १९५० तक

भारतेन्दु हरिश्चंद्र के हाथ में इस बार नेतृत्व आया। इस युग में स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२३-१८८३ ई०), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०), श्रीनिवास दास (१८५१-१८८७ ई०), बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१३ ई०), प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४ ई०), राधाकृष्ण दास (१८६५-१९०७ ई०), कार्तिक प्रसाद खत्री (१८५१-१९०४ ई०), राधाचरण गोस्वामी (१८५९-१९२५ ई०) बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५-१९२३ ई०), ठाकुर जगमोहन सिंह (१८५७-१८९९ ई०), देवीप्रसाद मुंसिफ (१८४७-१९१३ ई०) किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९२३ ई०), तोताराम वर्मा (१८४६ १९०२ ई०), देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३ ई०), अंबिकादत्त व्यास (१८५८-१९०० ई०) आदि ने तथा इस युग की पत्र-पत्रिकाओं ने हिंदी भाषा और साहित्य के उन्नयन के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

भारतेन्दु

भारतेन्दुयुग-विधायक साहित्यकार थे। आपका जन्म काशी में संवत् १९०७ की ऋषि पंचमी को एक संभ्रान्त कुल में हुआ। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता का नाम गोपालचन्द्र था। वे ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। गिरधरदास उनका उपनाम था। वे परम वैष्णव थे।

भारतेन्दु जी प्रतिभा-सम्पन्न बालक थे। अल्पावस्था में ही माता-पिता के प्यार से वंचित हो भारतेन्दु एक विचित्र बेफिक्री के साथ जीवन में प्रविष्ट हुए।

जगन्नाथ-यात्रा में उनका परिचय बंगाल के कुछ नये कलाकारों से भी हुआ। उस समय बंगाल के सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन में एक विचित्र आन्दोलन था। साहित्य के विविध अंगों का निर्माण हो रहा था। भारतेन्दुजी इससे बहुत प्रभावित हुए। हिंदी में नवयुग की चेतना का सूत्रपात अभी नहीं हुआ था। संवत् १९२३ में बुलंदशहर, चुनार, लखनऊ, मसूरी, हरिद्वार, कानपुर, लाहौर, अमृतसर, दिल्ली आदि स्थानों का भी पर्यटन किया। इन यात्राओं के बाद ही आपने बड़ी द्रुतगति से साहित्य-सेवा आरम्भ की।

आपने सत्रह वर्ष की अवस्था में ही 'कविवचन-सुधा' नाम की पत्रिका निकाली। बाद में इसमें हिंदी गद्य भी छपने लगा। कुछ अंक निकलने के बाद इस पत्रिका का नाम भी 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' हो गया। इसी पत्र में ही हरिश्चंद्र की परिमार्जित हिंदी प्रथम बार दिखाई पड़ी। आपने एक और पत्रिका 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' नाम की निकाली थी।

वे दिल के बादशाह थे। सरस्वती की पूजा करते थे, पर लक्ष्मी को दोनों हाथ से लुटाते थे। वे कहते थे कि धन ने मेरे परिवार को खाया है, अब मैं इसे खाऊँगा। उनके विलक्षण व्यक्तित्व के कारण ही महलों से लेकर कुटियों तक के लोग उनके पास आते थे। उनके व्यक्तित्व के प्रधान लक्षण थे, उनके हृदय की उदारता, रसिकता, विनोदप्रियता तथा स्वच्छन्दता। उनके व्यक्तित्व के निर्माण में उनके कुल की परम्पराओं और परिवार की परिस्थितियों ने अच्छा हाथ बँटाया था।

उनके व्यक्तित्व की भाँति ही उनका साहित्य भी कई विचार-धाराओं, कई भावनाओं का सम्मिश्रण है। उनके काव्य-साहित्य को हम भाव के अनुसार चार भागों में बाँट सकते हैं—१. भक्ति-प्रधान, २. शृंगार प्रधान, ३. देश-प्रेम की भावना-प्रधान, ४. सामाजिक समस्या प्रधान ।

कवि ने सूर, मीरा, घनानंद और रसखान के अनुराग-भरे पथ का अनुकरण किया है। एक ओर आपकी कविता में प्राचीन रीति-कालीन परम्परा का निर्वाह था, तो दूसरी ओर प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ने का आग्रह भी। आपने जन-साहित्य का भी निर्माण किया। कजली और लावनियाँ भी लिखीं। उनके साहित्य में सामाजिक दशा का बड़ा ही सजीव चित्र है। उनके 'अँधेर नगरी', 'भारत-दुर्दशा' आदि नाटक हमारी समस्याओं को ही सामने लाते हैं। आपने देश-प्रेम की उस समय आवाज उठाई जब अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध एक शब्द भी कहना अपराध था।

आपने हिंदी में व्यापक साहित्य का ही निर्माण नहीं किया, आपने नये-नये साहित्यकार भी बनाये। आपके युग में एक साहित्यकार-मंडल तैयार हो गया था। उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, लाला श्रीनिवास दास, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित केशवराम भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, पंडित राधाचरण गोस्वामी इत्यादि कई प्रौढ़ प्रतिभाशाली लेखकों का एक सुदृढ़ मण्डल उनके ही समय में उनके द्वारा तैयार किया गया।

गद्य-साहित्य

गद्यकार के रूप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की महत्ता कवि की अपेक्षा और भी प्रौढ़ है, क्योंकि उस समय न केवल भाषा के परिष्कार की, हिंदी के व्यापक प्रसार की तथा लोक-जीवन में हिंदी की प्रतिष्ठा की आवश्यकता थी, अपितु स्वस्थ वृत्ति के साहित्य के निर्माण की आवश्यकता का भी अनुभव होने लगा था। व्यापक दृष्टि से भारतेन्दु ने गद्य के क्षेत्र में अटूट लगन और निष्ठा के साथ दोनों कार्य सम्पन्न किये तथा

परिष्कृत हिंदी का व्यापक प्रयोग कर उसे साहित्यिक निर्माण के उपयुक्त बनाया। सामाजिक से लेकर दार्शनिक भित्ति उनके साहित्य की आधार-शिला बनी।

नाटक के द्वारा उन्होंने तत्कालीन जीवन-दर्शन को समाज-गंगा क रूप में प्रवाहित करने का प्रयत्न किया। उनके पूर्व तक केवल निम्नांकित नाटक मात्र लिखे गये थे, जिन्हें नाटक की संज्ञा देना साहित्यिक दृष्टि से समीचीन नहीं, क्योंकि वे तो पद्य में लिखी रचनाएँ मात्र हैं।

जैन कवि बनारसीदास का 'समयसार' नाटक, प्राणचन्द चौहान का 'रामायण' महानाटक, व्यासजी के शिष्य देवकृत 'देवमाया प्रपंच', अंतर्वेद निवासी ब्राह्मण नेवाज का 'शकुन्तला', राधेराम नागर का 'सभासार', 'कृष्ण-जीवन', लछीराम कृत 'करुणाभरण', लल्लूलालजी के वंशधर हरिराम का 'जानकी राम-चरित नाटक', बांधवनरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंद-रघुनंदन' नाटक, बाबू गोपालचन्द्र का 'नहुष' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

भारतेन्दु ने स्वयं ही अपने पूर्ववर्ती नाटकों का उल्लेख किया है और उन्होंने केवल महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनंद-रघुनंदन' और अपने पिता बाबू गोपालचंद्र के 'नहुष' नाटक मात्र को वास्तविक नाटक माना है। पर तथ्य यह है कि भारतेन्दु हिन्दी-नाटक के आदि-प्रवर्तक है। हिंदी नाटकों के इतिहास का एक धारावाहिक विकास उनकी रचनाओं से होता है। उन्होंने नाटकों का अनुवाद किया, अपने संरक्षण में अनुवाद करवाया तथा स्वयं मौलिक कृतियाँ लिखीं। यद्यपि उनके नाटक पूववर्ती साहित्य के लेखकों से प्रभावित हैं तो भी कहना न होगा कि केवल प्रभाव तक ही हैं। लेखक की मौलिकता 'सत्य हरिश्चंद्र' और 'विद्यासुंदर' में स्वयं बोल लेती है। भावों के क्षेत्र में उन्होंने न केवल युग में व्याप्त अँधेर, कुशासन, वैर-भाव, सामाजिक विपन्न, स्थिति की अभिव्यक्ति मात्र प्रस्तुत की है, अपितु अंग्रेज सरकार की बड़ी आलोचना भी की है। यदि उस समय की उनकी रचनाएँ उठाकर देखी जायँ तो ऐसा आभास लगता है कि उनके-जैसा सुधारक नेता एवं साहित्य-स्रष्टा उस युग में कोई हुआ ही नहीं। यदि रोमांटिक रच-

नाओं की ओर विशेष ध्यान से देखा जाय तो यह मानना पड़ता है कि 'चंद्रावली' न केवल उनकी हिंदी की प्रथम रोमांटिक नाटिका है अपितु उसमें एकोन्मुखी प्रेमाकुल चित्तवृत्तियों की सजीव अभिव्यक्ति भी है। कहना न होगा कि यह कृति लेखक के व्यक्तित्व की व्यापक अभिव्यक्ति का आभास देती है। उनके अनुदित नाटकों में 'रत्नावली' (प्रारम्भिक अंश), 'पाखंड विमंडन', 'प्रबोध चंद्रोदय का तृतीय अंश', 'धनंजय विजय', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमंजरी,' 'भारत जननी', 'दुर्लभ बंधु' हैं।

निबन्धकार के रूप में हिंदी निबन्धों का इन्हें प्रवर्तक मानते हैं। इन्होंने उस समय अपने द्वारा प्रवर्तित पत्रों—कविवचन-सुधा, हरिश्चंद्र-सुधा, बालबोधिनी में निबन्ध लिखे जब दयानन्द सरस्वती और पं० श्रद्धाराम फुलौरी के अतिरिक्त किसी ने भी निबन्धों की रचना न की थी। पर उन दोनों की रचनाएँ धार्मिक और सांप्रदायिक खंडन-मंडन की अभिव्यक्ति भाषा-मात्र में है। साहित्यिक दृष्टि से निबंध-प्रवर्तक का कार्य इन्होंने ही किया। भाषा में जिस समय राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह में शैली की मान्यता के प्रश्न पर द्वंद्व चल रहा था, उस समय इन्होंने मध्य मार्ग अपनाकर रचना के लिये व्यापक द्वार खोला था। यद्यपि इनके निबन्ध साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के नहीं थे, फिर भी निबंधों के वे जनक हैं।

भारतेन्दु मंडल की चर्चा पहले की जा चुकी है। अब संक्षेप में समकालीन लेखकों का अलग-अलग उल्लेख किया जायगा।

प्रतापनारायण मिश्र (संवत् १९१३—१९५१) : अलमस्त, मनमौजी व्यक्तित्व के मस्त व्यक्ति मिश्र जी थे। उन्नाव उनकी जन्मभूमि थी और कानपुर उनका वासस्थान। व्यंग्य और विनोद से भी गद्यलेखन की अपनी इनकी अलग मौलिक शैली थी। बैसवाड़ा की मजेदार लोक-प्रचलित उक्तियों, कहावतों से विनोदपूर्ण व्यंग्य भरी वक्रता उत्पन्न करने में इन्होंने कमाल कर दिखाया। मनयोग से लेकर देश-देशा तक और नागरी हिंदी प्रचार तक पर लिख गये। इनके द्वारा ब्राह्मण पत्र के निकालने की बात पहले ही कही जा चुकी है। ये निबंधकार के अति-

रिक्त नाटककार के रूप में भी प्रकट हुए। इनके नाटकों के नाम हैं, संगीत शाकुंतल (खड़ी बोली पद्य में शकुंतला का अनुवाद 'भारत दुर्दशा', भारतेन्दु धरामृत', 'हठी हम्मीर', 'गोसंकट', 'कलिप्रभाव', 'कलिकौतुक रूपक'। इन्होंने एक प्रहसन भी लिखा जिसका नाम 'जुआरी-पुआरी' है। इनके अब तक निबंधों के तीन संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनके नाम हैं—प्रताप-पीयूष, निबंध नवनीत, प्रताप समीक्षा।

बालकृष्ण भट्ट : प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में संस्कृत के अध्यापक, हिंदी-प्रदीप के संपादक पं० बालकृष्ण भट्ट हिंदी गद्य-कर्ताओं में स्टील की भांति स्मरण किए जाते हैं। इन्होंने स्थान-स्थान पर सुंदर मुहावरों और कहावतों का अपने निबंधों में प्रयोग किया है तथा 'हिंदी-प्रदीप' द्वारा ३३ वर्षों तक निरंतर हिंदी गद्य-साहित्य को ढर्रे पर लाने के लिये व्यापक प्रयत्न किया। व्यंग्य और वक्रता की दृष्टि से इनके निबंध अच्छे है। जहाँ ये पूरबी शब्दों तथा अंग्रेज़ी के शब्दों का व्यवहार करते हुए पाए जाते हैं, वहीं इनके व्यंग्य में एक मजेदार झिझक और चिड़चिड़ाहट का मजा भी मिलता है। यदि निबंधकार की दृष्टि से देखा जाय तो अपने पूर्ववर्ती लेखकों में इनका स्थान सर्वोत्तम है। इनके निबंधों में इनकी विद्वत्ता का भी दर्शन होता है। इन्होंने सैकड़ों निबंध लिखे, किंतु सब अभी तक पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हो सके।

प्रेमघन (संवत् १९१३—१९८९) : उपाध्याय बदरी नारायण चौधरी नाटककार, लेखक और कवि के रूप में भारतेन्दु मण्डल में प्रतिष्ठित थे। तबीयत तो उनकी रईसों-सी थी, पर उनकी शैली शिल्पी की भांति थी। उन्होंने अनेक नाटक लिखे थे, जिनमें एक १८८८ के कांग्रेस अधिवेशन में खेला गया। उनकी भाषा में भी रंगीनी की झलक मिलती है। उन्होंने विनोदपूर्ण प्रहसनों की भी रचना की। 'आनंद-कादम्बिनी' का उन्होंने सम्पादन किया तथा उनकी रचनाओं से ही वह भरी रहती थी। भट्टजी और चौधरी साहब ने हिंदी में आलोचना का आरम्भ भी किया।

लाला श्रीनिवास दास (संवत् १६०८—१६४४) : ये हिंदी के नाटककार तथा उपन्यासकार के रूप में विख्यात हैं। उन्होंने साफ़-सुथरी भाषा तथा संयत रूप में लिखने का प्रयत्न किया।

ठाकुर जगमोहन सिंह : राघवगढ़ राजकुमार, संस्कृत के ज्ञाता और भारतेन्दुजी के मित्रों में से थे। भारतेन्दु- मंडल के कवियों या साहित्यकारों में वह सर्वाधिक प्रकृति के प्रेमी साहित्यकार थे। उन्होंने भावना-प्रधान मधुर शैली में गद्य और पद्य दोनों की रचना की और इस दृष्टि से उनका महत्त्व अपने युग के साहित्य, कारों में बहुत अधिक है।

राधाचरण गोस्वामी संपादक और नाटककार थे। सम्पादक बाबू तोताराम अपने युग के सामान्यतः अच्छे लेखक, नाटककार थे। केशव-राम भट्ट, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, भीमसेन शर्मा, काशीनाथ खत्री, काशीप्रसाद खत्री, फ्रेडरिक पिनकाट, पंडित सुधाकर द्विवेदी— सभी के सभी इस युग के अच्छे लिखने वाले थे। इनमें राधाकृष्ण दास (सं० १६६४) का काल ऐतिहासिक महत्त्व का है। उन्होंने उपन्यास और नाटक की रचना की, साथ ही पुराने साहित्य के संबंध में भी अन्वेषण-कार्य किया तथा तत्संबंधी लेख लिखे। 'हिंदी समाचार-पत्रों का सामयिक इतिहास' उन्होंने लिखा जो नागरी प्रचारिणी सभा का प्रथम प्रकाशन है।

युग-कविता

इस युग में रीतिकाल की पुरानी परिपाटी पर भी रचनाएँ होती रहीं। रचनाकारों में किसी नवीन जीवन-दर्शन का उद्बोधन नहीं, प्रायः वही पुरानी पिटी हुई लकीर पर चलने की प्रवृत्ति मिलती है। ऐसे लेखकों में सरदार (सं० १६०२ से १६५०), रीवाँ-नरेश रघुराज सिंह (सं० १८८० से १६३६), ललित किशोरी, कुंदनलाल (१६१३ से १६३०), राजा लक्ष्मणसिंह, गोविंद गिल्ला भाई, नवीन चौबे आदि की गणना की जाती है।

काव्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा का व्यापक राज्य सम्पूर्ण युग में रहा।

गद्य रूप में खड़ी बोली अपने नये परिष्कृत रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी, किंतु इस युग के अधिकांश लेखक काव्य के लिये ब्रजभाषा को ही अधिक उपयुक्त मानते थे। इस युग में प्रायः सभी कलाकारों ने खड़ी बोली में पद्य की रचना की पर भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र आदि ब्रजभाषा को ही काव्य की भाषा मानते थे और इसे लेकर बड़ा व्यापक आन्दोलन उठ पड़ा, जिसमें खड़ी बोली को प्रतिष्ठा के लिए श्रीधर पाठक का प्रयत्न अत्यंत स्तुत्य तथा सराहनीय है।

इस युग के अंत तक खड़ी बोली को लेकर निरंतर वाद-विवाद व्यापक रूप से चलता रहा, पर अंततोगत्वा सभा द्वारा 'सरस्वती' (सन् १९००) के प्रकाशन के साथ ही खड़ी बोली की विजय होकर रही। इस युग की कविताओं में एक व्यापक परिवर्तन का आभास प्रत्यक्ष है। विषय की दृष्टि से इस युग के कवियों ने रीतिकालीन काव्य-परंपरा को व्यापक दृष्टि प्रदान की। इस युग का कलाकार देश की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक—सभी समस्याओं पर व्यापक दृष्टिकोण रखनेवाला था। यथार्थवादी दृष्टिकोण से काव्य की उद्भावना करने का यत्न इस युग के कवियों की बहुत बड़ी देन थी।

यह युग काव्य के विषय की दृष्टि से नवीन चेतना का प्रतीक था, अतएव कुशल कला का दर्शन तो दूर की बात है, काव्य की मधुरता के स्थान पर कर्कशता और कटुता का दर्शन होता है। विचारों का संक्रांतिकाल तथा तत्कालीन परिस्थितियाँ उनके लिये उत्तरदायी हैं। पत्रकारिता यथा सामाजिक आंदोलन के कारण व्यंग्यपूर्ण रचनाएँ भी इस युग में की गईं। इस युग की रचनाओं में समाज को आशा का कोई बहुत बड़ा या व्यापक संदेश नहीं मिलता। समस्या पूर्ति की धूम भी दिखाई पड़ती है। लोक में प्रचलित छंद-पद्धति भी व्यापक रूप से अपनायी गई। इस युग की रचनाओं में आशा का संदेश ढूंढना गलत होगा, क्योंकि तत्कालीन समाज में जिस रूप में देश-सेवा, समाज-सेवा, राजनीतिक जागरण का प्रयत्न इन कवियों ने किया उससे अधिक किया भी नहीं जा सकता था। ऐतिहासिक दृष्टि से इस काव्य का नये दिशा

निर्देशन के कारण निश्चय ही बहुत बड़ा महत्त्व है, भले ही काव्य के मौलिक गुणों का अभाव इस युग में दीखे। एक बात स्मरणीय है कि प्राय: नई परिपाटी पर रचना करनेवाले कवियों ने भी रीतिकालीन काव्य परंपरा पर रचनाएँ कीं।

प्रकृति की ओर आँख उठाकर देखनेवाले कवियों में ठाकुर जगमोहन सिंह और पं० श्रीधर पाठक का नाम विशेष सम्मान के साथ लिया जाएगा।

नई धारा के रचनाकारों में भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, ठाकुर जगमोहन सिंह तथा सर्वाधिक पं० श्रीधर पाठक का नाम लिया जायगा। वास्तव में यह युग पद्य का ही था, यद्यपि बड़े व्यापक पैमाने पर गद्य की रनचाएँ इस युग में की गयीं।

भारतेन्दु के बाद संवत् १९५० से १९५५ का काल ऐसा संधिकालीन युग माना जा सकता है जब सभी क्षेत्रों में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। भारतेन्दु तथा नए युग के बीच इसे संधियुग के रूप में स्मरण किया जा सकता है। इस युग में भाषा की व्यवस्था की ओर तो लोगों का ध्यान गया ही, अनुवाद का कार्य बड़ी तेजी से प्रारंभ हुआ। अंग्रेज़ी, बंगला, गुजराती, मराठी, सबके उच्चकोटि के साहित्य का हिंदी में व्यापक रूप से अनुवाद हुआ। नाटक, उपन्यास, निबंध सभी कुछ इस युग में दिखाई पड़ा। इसके पूर्व लघु आख्यायिका नहीं लिखी गई थीं। नीचे एक अनुसूची दी जा रही है, जो उक्त संकेतों को स्पष्ट करने में सहायक होगी।

नाटक

अनूदित : रामकृष्ण वर्मा—वीरनारी, कृष्णकुमारी, पद्मावती। गोपालराम गहमरी—वभ्रुवाहन, देश-दशा, विद्याविनोद, चित्रांगद। रूपनारायण पांडेय—पतिव्रता, दुर्गादास। पुरोहित गोपीनाथ—रोमियो-जूलियट, एज यू लाइक इट, वेनिस का व्यापारी। मथुरा प्रसाद चौधरी—साहसेंद्र साहस, मैकबेथ। लाला सीताराम, बी० ए०—मेघदूत, नागानंद, मृच्छकटिक, महावीर-चरित्र, उत्तर, रामचरित, मालती माधव, मालविकाग्निमित्र। ज्वालाप्रसाद मिश्र—वेणी संहार, अभिज्ञान शाकुंतल।

बाबू बालमुकुंद गुप्त—रत्नावली नाटिका। सत्यनारायण कविरत्न—मालती माधव, उत्तर-रामचरित।

मौलिक : पंडित किशोरीलाल गोस्वामी—चौपट चपेट, मयंक मंजरी। हरिग्रौध—रुक्मिणी परिणय, प्रद्युम्नविजय, व्यायोग। ज्वालाप्रसाद मिश्र—सीता वनवास। बलदेवप्रसाद मिश्र—प्रभाष मिलन, मीराबाई नाटक, लल्ला बाबू 'प्रहसन'। शिवनंदन सहाय—सुदामा नाटक, चंद्रकला भानुकुमार। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'—पूर्ण भंकृति।

इन नाटकों में मीराबाई, प्रभाष मिलन ऐतिहासिक महत्त्व के हैं तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का नाटक इतिहास के साथ ही साथ सामाजिक दृष्टिकोण के कारण अपना अच्छा स्थान रखता है। अनुवादकों में रूपनारायण पांडेय, लाला सीताराम, बी० ए० तथा बालमुकुंदजी के अनुवाद अच्छे हैं।

कथा-साहित्य

अनुवाद : रामकृष्ण वर्मा—ठगवृत्तान्तमाला—संवत् १९४६, कुलिष वृत्तान्तमाला—संवत् १९४३, अकबर १९४८, अमला वृत्तान्तमाला—संवत् १९५१, चित्तौर चातिकी संवत् १९५२। कार्तिकप्रसाद खत्री—इला, प्रमिला, जया और मधुमालती का अनुवाद---सं० १९५२ से १९५५। गोपालराम गहमरी—चतुरचंचला, भानुमती, नये बाबू, बड़ा भाई, देवरानी-जेठानी, दो बहन, जून पतोह और सास पतोहू, सबका अनुवाद-काल सं० १९५७ से १९६१। बंकिम, रमेशचंद्र, शरत्, रवीन्द्र आदि की कृतियों का भी अनुवाद हुआ। अंग्रेजी से 'लन्दन रहस्य' का भी अनुवाद हुआ।

मौलिक उपन्यास : मौलिक उपन्यासों का सूत्रपात भी यहीं से हुआ। हिंदी के प्रथम मौलिक उपन्यास-लेखक बाबू देवकीनन्दन खत्री के तब तक नरेन्द्र मोहिनी, कुसुम कुमारी, वीरेन्द्र-वीर आदि उपन्यास प्रकाश में आ चुके थे। उन्होंने हिंदी-जगत् से व्यापक परिचय करानेवाला उपन्यास 'चंद्रकांता' इसी समय लिखा। चंद्रकांता की लोकप्रियता इसी बात से जानी जा सकती है कि चंद्रकांता पढ़ने के लिये कितनों ने हिंदी पढ़ी और कितने उसे पढ़कर उस ढंग से लेखक बनने का प्रयास

करने लगे। वे तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों के हिंदी में प्रवर्तक थे। उनकी भाषा जन-प्रचलित बोलचाल की भाषा थी। बाद में बीसवीं सदी में उनके रास्ते पर अनेक लेखक चले, जिनमें हरिकृष्ण जौहर, निहालचन्द्र वर्मा, दुर्गाप्रसाद खत्री का नाम उल्लेखनीय है।

पंडित किशोरीलाल गोस्वामी (संवत् १९२२—१९८६) मौलिक उपन्यास-लेखक थे। उनके उपन्यास अपने सजीव चित्रों, मनमोहक वर्णनों, चरित्र-चित्रण तथा वासनाओं के उद्दाम चित्रों के कारण काफी जनप्रिय हुए। उन्होंने बहुत-से उपन्यास लिखे तथा सं० १९६५ में उन्होंने 'उपन्यास' नामक एक मासिक पत्रिका निकाली।

अन्य उपन्यासकार—'हरिऔध' ने भाषा का जादू दिखाने के लिए वेनिस का बाँका, ठेठ हिंदी का ठाठ और अधखिला फूल, लिखा। पं० लज्जाराम मेहता ने पत्रकार की भाँति आदर्श की प्रतिष्ठा के निमित्त 'धूर्तरसिक लाल', 'हिंदू गृहस्थ', 'आदर्श दम्पति', 'बिगड़े का सुधार' और 'आदर्श हिंदू' नामक उपन्यास संवत् १९५९ से सं० १९७२ के बीच लिखा। भावना-प्रधान उपन्यासों का आरम्भ भी उस युग में ब्रजनंदन सहाय द्वारा हुआ। 'सौंदर्योपासक' और 'राधकान्त' इनके उपन्यास हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि इस युग में उपन्यास के नाना प्रकार के बीजों का रोपण साहित्य के क्षेत्र में हुआ जिसका पल्लवन भावी युग में भी होता रहा।

कहानियाँ—आधुनिक ढंग की कहानियाँ भारतेन्दु-युग में न लिखी गयीं, आख्यायिकाएँ लिखी गयीं। हिंदी में गिरजाकुमार घोष, लाला पार्वतीनंदन तथा पूर्णचंद्र की स्त्री बंग महिला ने कुछ अनुवाद किया। बंग महिला ने मौलिक कहानियाँ भी लिखने का प्रयत्न किया, किन्तु वे बंगला की कहानियों के प्रभाव से अछूती नहीं। मौलिक कहानियों के विकास की अनुसूची आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने नीचे लिखे ढंग से दी है—

इंदुमती—'किशोरीलाल गोस्वामी' सं० १९५७। गुलबहार—'किशोरीलाल गोस्वामी' सं० १९५९। प्लेग की चुड़ैल—'मास्टर' भगवानदास मिर्जापुर, सं० १९५९। ग्यारह वर्ष का समय—'रामचंद्र शुक्ल' सं०

१९६०। पण्डित और पण्डितानी-'गिरजादत्त वाजपेयी' सं० १९६०। दुलाईवाली—'बंग महिला' सं० १९६४।

समालोचना—पश्चिम में गद्य में केवल आधुनिक ढंग की कहानियाँ ही नहीं लिखी जा रही थीं, अपितु गद्य के सभी क्षेत्रों में बहुत बड़े पैमाने पर साहित्य के वर्तमान विभिन्न अंगों का स्वस्थ प्रणयन भी हो रहा था। बाबू हरिश्चंद्र के समय में ही हिंदी में आलोचना के संबंध में प्रेमघन का उल्लेख किया जा चुका है। यद्यपि उनकी आलोचना सुंदर और सूक्ष्म थी, तो भी पुस्तकाकार किसी कृति का प्रकाशन भारतेन्दु के समय में आलोचना के क्षेत्र में नहीं हुआ। इस संबंध में सबसे पहली कृति पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रकाशित हिंदी कालिदास की आलोचना है, उन्होंने ही 'विक्रमांकदेवचरित-चर्चा' और 'नैषधचरित-चर्चा' नाम की आलोचना की प्रशंसात्मक पुस्तकें भी लिखीं। ये आलोचना के क्षेत्र में प्रारंभिक कृति मानी जा सकती हैं। द्विवेदीजी की 'कालिदास की निरंकुशता' नामक पुस्तक आलोचना के क्षेत्र में तीसरी पुस्तक है।

इस काल में मिश्रबन्धुओं का उदय भी हुआ। 'हिंदी-नवरत्न' और 'मिश्र-बंधु-विनोद' द्वारा उन्होंने हिंदी-जगत् को अपना परिचय दिया। 'मिश्र-बंधु-विनोद' ऐतिहासिक महत्त्व की कृति है, भले ही वह गंभीर न होकर इतिवृत्तों का संग्रह मात्र हो। इस वृहद् ग्रंथ से हिंदीवालों का, विशेषकर समीक्षा-लेखकों का उपकार ही हुआ। यद्यपि इस ग्रंथ में किसी गंभीर आलोचना-शैली का निदर्शन नहीं है, तो भी हिंदी में तुलनात्मक समीक्षा के प्रारंभ का श्रेय मिश्र-बंधुओं को है, क्योंकि इन्होंने देव को हिंदी का सबसे बड़ा कवि मात्र ही उसमें नहीं बतलाया था, अपितु बिहारी से श्रेष्ठ कवि के रूप में चित्रित करने के लिए बिहारी और देव के संबंध में अनेक ऊटपटांग अनर्गल बातें भी लिख डालीं।

पं० पद्मसिंह शर्मा भी इस समय आलोचक के रूप में बिहारी-संबंधी अपनी कृति लेकर आये। आलोचना की दृष्टि से तुलनात्मक समीक्षा की यह विशिष्ट कृति है, किंतु प्रस्तुत आलोचना इस बात के लिए लिखी गई थी कि बिहारी देव से बड़े हैं। इनकी पुस्तक के कारण हिंदी साहित्य में देव और बिहारी को श्रेष्ठ समझने वाले लेखकों के दो अखाड़े बन गये।

उन अखाड़ों में अनेक ने कसरत की, दाँव-पेंच दिखाये, किंतु दो प्रमुख आलोचक पंडित कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन ने क्रमश: 'देव और बिहारी' तथा 'बिहारी और देव' नामक कृतियाँ प्रस्तुत कीं, जिनके कारण हिंदी-समीक्षा-शैली को बल मिला। तुलनात्मक आलोचना इस युग की देन मानी जा सकती है। पर गंभीर आलोचना का आरंभ इसके बाद वाले युग में हुआ।

भारतेंदु के समय से ही निबंध-लेखन का कार्य हिंदी में आरंभ हो चुका था। उस युग में वर्णनात्मक, सामयिक तथा अन्य ढर्रे के निबंध लिखे गये। बेकन तथा चिपलूणकर की पुस्तकों का अनुवाद क्रमश: महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'बेकन-विचार-रत्नावली' और 'निबंधमालादर्श' के नाम से किया। इस युग के प्रमुख निबंध-लेखकों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पंडित माधवप्रसाद मिश्र, गोपालराम गहमरी, पं० गोविंदनारायण मिश्र, बाबू श्यामसुंदर दास, बालमुकुंद गुप्त, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, सरदार पूर्णसिंह आदि मुख्य हैं। इनके संबंध में आगे विचार किया जायेगा। आगामी युग जिन संभावनाओं और संकल्पों का आभास देता है वे निश्चय ही बहुत बड़ी आशा का संकेत हैं। इस बीजारोपण-काल में हिंदी के लिए, हिंदी साहित्य के लिए जो कार्य सम्पन्न हुआ वह निश्चय ही समय को देखते हुए बहुत बड़ा था।

बीसवीं शताब्दी

नई चेतना

बीसवीं सदी (ईसा) के आरम्भ में एक नई सामाजिक चेतना की जागृति भारतवर्ष में हुई। सन् १९०४ में जापान के रूस-विजय पर एशियाई राष्ट्र होने के कारण भारतवर्ष के लोगों के भीतर नई आशा और विश्वास की एक लहर उठी। लगभग उसी समय तिलक ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। कांग्रेस में राष्ट्रीय तत्वों को बल मिलने लगा। बंगभंग और होमरूल आंदोलन देश में नई स्फूर्ति जगाने में सफल हुए। लोगों के भीतर नया आत्मबल, नई स्फूर्ति और स्वतंत्रता के लिए नई चेतना जागृत होने लगी। क्रांतिकारी युवकों के कार्यों की प्रतिक्रिया लोगों के मन पर नई चेतना बनकर छा गई। अंग्रेज़ों के शासन को दृढ़ करने के प्रमुख उपकरण आवागमन के साधन समस्त भारत में बिखरे विशाल जन-समूह को एक आदर्श, एक भावना और एक आवश्यकता स्वतंत्रता के लिए एक सूत्र में बाँधने लगे। देश में पत्र-पत्रिकाओं के व्यापक प्रसार तथा कांग्रेस एवं आर्य समाज के संगठन ने लोगों में जान फूंक दी। विदेशी बायकाट और स्वदेशी आंदोलन से जनता को बड़ा बल मिला।

हिंदी के प्रसार और प्रचार का आन्दोलन भी व्यापक रूप ग्रहण करने लगा। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की बात पहले ही कही जा चुकी है। यहाँ से 'सरस्वती' नामक पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ हुआ। आगे चलकर इस संस्था ने हिंदी के लिए व्यापक आंदोलन करने वाली संस्था हिंदी-साहित्य-सम्मेलन को भी जन्म दिया। इन दो संस्थाओं ने न केवल देश में बिखरी समस्त हिंदी-प्रेमी जनता को एक सूत्र में बाँधने का यत्न किया, अपितु अनेक हिंदी-प्रेमियों को उत्पन्न भी किया। सभा ने तो उस युग में जबकि खड़ी बोली किशोरावस्था में

थी, ऐसे अनेक कार्य किये जो आज भी आश्चर्यचकित कर देते हैं। सम्मेलन ने अपनी परीक्षाओं आदि के द्वारा हिंदी का जो व्यापक प्रसार देश में किया, वह उसी प्रकार का है, जिस प्रकार का कांग्रेस का राजनीति का क्षेत्र में। सभा से 'सरस्वती' का प्रकाशन एक बहुत बड़ी घटना के रूप में प्रकट हुआ। तीन वर्ष तक बाबू श्यामसुन्दर दास उसके संपादक रहे। फिर उसका संपादनभार ग्रहण-कर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' द्वारा अपने मनोभावों को मूर्त रूप दिया। द्विवेदीजी के अनुगामी लेखक उनके बनाए हुए तथा उन्हीं के द्वारा हिंदी में प्रतिष्ठित किये गए हैं। उन्होंने लोगों की प्रतिभा की जड़ें जमा दीं। द्विवेदीजी अधिनायकवादी मनोवृत्ति के व्यक्ति थे। मराठी से वे विशेष प्रभावित थे और हिंदी में बीस वर्षों तक उनका एकछत्र राज्य था। गद्य के क्षेत्र में उन्होंने खड़ीबोली की भाषा का सस्कार किया, नये लेखक पैदा किये, उनकी रचनाओं को सँवारा, सुधारा और कविता के क्षेत्र में भी उन्होंने खड़ीबोली की प्रतिष्ठा की। देश-प्रेम की व्यापक चेतना का जो बीज भारतेन्दु-युग में रोपित किया गया था वह सभी दृष्टियों से इस युग में पल्लवित हुआ।

काव्यरचना—बीसवीं सदी के प्रारंभ तक के क्षेत्र में व्रज और खड़ीबोली के प्रयोग के प्रश्न पर जो लोग खड़ीबोली में काव्य-रचना के पक्षपाती थे, उनकी भर्त्सना पुराने कवियों ने समय-समय पर की और एक बहुत बड़ा विवाद इस विषय पर छिड़ा। पर जीत खड़ीबोली की ही रही। खड़ीबोली को काव्य की भाषा बनाने का आंदोलन प्रमुख रूप से सर्वश्री श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शंकर शर्मा आदि ने किया। खड़ीबोली के प्रति उनकी सत् निष्ठा का परिणाम यह हुआ कि हिंदी में नवागत खड़ीबोली में रचना करने के लिए वे परिकरबद्ध हुए।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' द्वारा प्रारंभिक दशा की खड़ी-बोली को काव्य का रूप देने के लिए अनुष्ठानकर्ता के रूप में दीख पड़ते हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

आदर्श तथा समाज को काल का विषय बनाने के लिए प्रयत्न करते रहे। मराठी का प्रभाव उन पर था और वे संस्कृत के ज्ञाता थे, इसलिए प्रयोग रूप में संस्कृत-वृत्तों पर ही खड़ीबोली को ढालने का प्रयत्न वे कर रहे थे। तब तक अनेक सशक्त कवि इस क्षेत्र में आ चुके थे, जिनकी प्रथम दशक की खड़ी बोली की रचनाओं में नीरसता का दर्शन स्पष्ट लक्षित होता है, पर उनमें काव्य की नई चेतना का उद्रेक भी निश्चित रूप से दृष्टिगत होता है। वह है उन्नीसवीं शती की प्रतिक्रियामूलक ध्वसात्मक भावनाओं का सर्जनात्मक परिधान धारण करना। इसमें भाव-प्रवणता की मात्रा बढ़ती दीख पड़ती है। कुछ लोग खड़ीबोली को उर्दू-छंद शैली पर भी ढालने का प्रयोग कर रहे थे। इस प्रकार भावना एवं भाषा दोनों दृष्टियों से इस शताब्दी का प्रथम दशक प्रयोगात्मक रहा है।

हरिऔध तथा अन्य—छोटी-छोटी प्रबंध की रचनाओं, अनुवादों आदि के अतिरिक्त तब तक श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ-वध' प्रकाशित हो चुका था। पर तब तक के सभी प्रयोग अर्द्धसफल ही माने जा सकते हैं। ऐसी ही प्रयोगात्मक स्थिति के बीच हरिऔधजी का 'प्रिय प्रवास' हिंदी में आया। 'प्रियप्रवास' का प्रकाशन खड़ीबोली के काव्य की एक घटना है।

प्रायोगिक अवस्था का प्रबंध-काव्य होने पर भी यह सभी दृष्टियों से समय से अत्यंत आगे था। 'प्रियप्रवास' ने काव्य में मानववादी आदर्शों की प्रतिष्ठा कर नयी चेतना का उद्बोध कराया। 'प्रियप्रवास' के पूर्व हरिऔधजी के साथ ही अन्य अनेक ऐसे कवि साहित्य की रचना में जुटे थे, जिन पर द्विवेदीजी का प्रभाव नहीं था। उनमें राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' पंडित नाथूराम शंकर शर्मा, पंडित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पंडित सत्यनारायण 'कविरत्न', लाला भगवानदीन, पंडित रामनरेश त्रिपाठी आदि थे। द्विवेदीजी के आदर्श से प्रभावित कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, पंडित रामचरित उपाध्याय, पंडित लोचनप्रसाद पांडेय आदि प्रमुख थे।

इन कवियों में पंडित श्रीधर पाठक का नाम सबसे पहले लिया जाएगा। उन्होंने सर्वप्रथम खड़ीबोली में काव्य की रचना की। कवि के रूप में सत्यनारायण 'कविरत्न', लाला भगवानदीन आदि सभी प्रारंभ में

ब्रजभाषा में रचना करते रहे, किंतु नये विषयों के लिए खड़ीबोली का व्यापक क्षेत्र ही इन्होंने अपनाया। 'पूर्ण' की रचनाएँ प्रकृति-निरीक्षण तथा दार्शनिक मनोभावों के कारण अपने समय के अनुसार अच्छी बन पड़ी है। शंकर की रचनाएँ समस्या-पूर्तियों तथा उद्दाम जातीय और राष्ट्रीय भावनाओं के कारण मूल्यवान हैं। भाषा की सफाई तथा काव्यत्व की दृष्टि से पं० रामनरेश त्रिपाठी की रचनाएँ इन दो दशकों में किसी भी कवि से कम सुंदर नहीं हैं। लाला भगवानदीन की रचनाएँ, विशेषकर 'वीरपंचरत्न', इस युग में खड़ीबोली की दृष्टि से अपना प्रमुख स्थान रखती है। बाद के प्रायः सभी अच्छे कवियों की रचनाएं प्रकाश में आयीं, जिनका आगे वर्णन होगा। किंतु 'प्रियप्रवास' के पूर्व सन् १९१२ में 'भारत-भारती' का प्रकाशन काव्य के क्षेत्र में नए उल्लास का सूचक बनकर आया। 'भारत-भारती' काव्य के द्वारा जन-जागरण हुआ। उसका सामयिक महत्त्व ऐतिहासिक हो चुका है और गुप्तजी के प्रचार का बहुत बड़ा कारण भी यही रचना है। रामचरित उपाध्याय की रचनाएं भी द्विवेदीजी के आदर्शों को मानकर लिखी गयी थीं। गद्य की इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति उनकी रचनाओं में पायी जाती है, क्योंकि द्विवेदीजी का आदर्श भी वही था। उपाध्यायजी को 'रामचरित चिंतामणि' अच्छी पुस्तक है। सामान्यतः पं० लोचनप्रसाद पांडेय भी 'सरस्वती' की देन हैं। इन्होंने प्रबंध तथा स्फुट रचनाएँ की। किंतु इन दो दशकों में सर्वाधिक महत्त्व के कवि ऐतिहासिक हरिऔधजी हुए।

हरिऔधजी बीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों में सर्वाधिक आदरणीय कवि हुए। उनकी शैली पर लोगों ने रचनाएँ कीं और कर रहे हैं। हरिऔधजी पहले ब्रजभाषा में रचना किया करते थे, किंतु उनका विशेष महत्त्व हिंदी में 'प्रियप्रवास' के प्रकाशन द्वारा सं० १९७१ में स्थापित हुआ। यद्यपि हिंदी-काव्य के चिरपरिचित नायक कृष्ण को उन्होंने अपने काव्य का नायक बनाया है, तो भी उसमें युग की व्यापक आकांक्षाओं को उन्होंने प्रतिष्ठित किया है।

इसमें शास्त्रवर्णित महाकाव्यों के प्रायः सभी लक्षणों का प्रयोग भी मिलता है। नायक से लेकर छंदों तक में उसका आभास स्पष्ट है

जाता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रायः इसके प्रमुख चरित्र उच्चकोटि के अंकित किये गए हैं, जिनमें राधा और कृष्ण का चरित्र तो स्मरणीय है। संस्कृत वृत्तों में 'प्रियप्रवास' की रचना वर्णनात्मक ढंग पर हुई है। कहीं-कहीं तो वर्णन की अनैसर्गिक विशदता जी उबा देती है। अधिकांश स्थल प्रवाहमय खड़ीबोली में लिखे गये हैं, भले ही कहीं-कहीं मिठास लाने के लिए ब्रजभाषा के शब्द भी रख लिये गये हों। दूसरा इनका प्रमुख काव्य 'वैदेही वनवास' है। 'उपन्यास' के प्रसंग में भाषा का जो नाटक उन्होंने किया, पद्य के क्षेत्र में भी वे उससे अलग नहीं रह सके। बोलचाल की भाषा में उन्होंने मुहावरों का प्रयोग कर विभिन्न विषयों पर रचनाएँ कीं, जिनमें 'चोखे चौपदे' सं० १९८९ में प्रकाशित हुआ, जो प्रचलित बोलचाल की भाषा में है। 'पद्य-प्रसून', जिसमें दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं, सं० १९८२ में प्रकाशित हुआ।

हरिऔधजी बाद में समालोचक और लेखक के रूप में प्रकट हुए, किंतु हिंदी में उनकी महत्ता कवि के रूप में है और रहेगी।

हरिऔधजी के समसामयिक लेखकों में प्रायः ब्रजभाषा में रचना करने वाले आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की महत्ता 'लाइट ऑफ़ एशिया' के अनुवाद 'बुद्धचरित' को लेकर है। वियोगी हरि भी अपने ढंग से पुरानी परिपाटी पर रचना करनेवाले कवि हैं, किंतु जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की महत्ता इनमें सर्वोपरि है।

रत्नाकर [जन्म सं० १९२३—मृत्यु सं० १९८९]—ब्रजभाषा के अंतिम प्रसिद्ध कवि बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित अग्रवाल-कुल में हुआ था। 'रत्नाकर जी ने काशी में बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। फारसी से एम० ए० भी करना चाहते थे, पर परीक्षा न दी। आपने विद्यालय की शिक्षा समाप्त करने पर अवागढ़ में दो वर्ष तक एक सम्मानित पद पर कार्य किया और तत्पश्चात् अयोध्यानरेश और उनकी रानी के सचिव-पद पर रहे।

रत्नाकरजी ने अपने काव्य का विषय पौराणिक गाथाओं को बनाया। अपनी प्रतिभा के बल पर उसी प्राचीन छंद और शैली को नये

मौलिक भाव देकर ब्रजभाषा में रचनाएँ कीं। उनका काव्य नई उक्तियों, नई उत्प्रेक्षाओं एवं नवीन कल्पनाओं का भण्डार है। उनकी काव्यानुभूति प्रबल एवं मार्मिक है। उनका प्रकृति-निरीक्षण भी अपना ही है। उनकी रचनाएँ हैं—'उद्धवशतक', 'गंगावतरण', 'हरिश्चंद्र', 'कलकाशी,' बिहारी-रत्नाकर, आदि। पत्रों का संपादन एवं बिहारी की टीका भी आपने की।

आपकी भाषा सरस, मधुर, प्रवाहमयी ब्रजभाषा है। उसमें शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने का प्रयत्न नहीं दीखता। संस्कृत के तत्सम शब्द भी उन्होंने ग्रहण किये हैं। शब्दों का चयन प्रौढ़, संगठित एवं प्रभावोत्पादक है। लोकोक्तियों एवं मुहावरों का भी प्रयोग उन्होंने किया है। आपने उपमा, रूपक, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का सुंदरता के साथ प्रयोग किया है। आपके प्रिय छंद कवित्त, सवैया और रोला हैं। रस का पूर्ण परिपाक, शब्दों का सुगठित चयन, भाव के अनुरूप छंदों का वर्णन, उपमा, रूपक, अनुप्रास की मधुर छटा सर्वत्र दृष्टिगत होती है।

यदि इस युग के काव्य पर विचार किया जाय तो जहाँ तक व्यापकता का प्रश्न है वर्ण्य-विषय, भाषा एवं भाव की दृष्टि से इस युग की रचनाएँ अपने पूर्ववर्ती युग के विकास की बहुत बड़ी कहानी अपने भीतर समेटे हुए हैं। देश-प्रेम, समाज-सुधार, हिंदी-प्रेम, राजनीतिक जागृति के साथ-साथ सामाजिक विषयों को काव्य में लिखा गया है। अंग्रेजों की प्रशस्ति भी की गयी है और यह प्रशस्ति प्रायः सभी कवियों ने की है। इस संबंध में 'सरस्वती' में प्रकाशित उस काल के तथा बाद के कवियों की रचनाएँ देखी जा सकती हैं। जहाँ द्विवेदीजी ने अनेक लोगों को इस युग में साहित्य-निर्माण के आयोजन में प्रेरणा दी वहीं पर उनके इति-वृत्तात्मक आदर्श के कारण हिंदी कविता में प्रारम्भ में गद्यात्मकता तथा तुकबंदी के भी दर्शन होते हैं। भाषा के विकास की दृष्टि से इस युग में काव्य की भाषा खड़ीबोली हो गयी, इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं किया जा सकता। इस युग की काव्य-भूमि तथा इतिवृत्तात्मकता ने उज्ज्वल भविष्य के लिए व्यापक भावभूमि तैयार की। साथ ही इस युग के काव्य ने उन सभी वृत्तियों का बीजारोपण किया जो बाद में सरस रसमय

काव्यधारा के रूप में फूटीं या इनकी प्रतिक्रिया के रूप में व्यापक रूप में दीख पड़ीं।

मैथिलीशरण गुप्त—द्विवेदीजी के समय में ही जिन कवियों का हिंदी में व्यापक प्रचार हुआ, उनमें मैथिलीशरण का स्थान कई दृष्टियों से सर्वोपरि है। यद्यपि वह सन् १९०६ में ही 'सरस्वती' द्वारा द्विवेदी जी की छत्रछाया में हिंदी-काव्य के क्षेत्र में आये, तो भी उनके साहित्य की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही हुई। जहाँ तक अनुगामियों का प्रश्न है, काव्य के क्षेत्र में गुप्तजी उनकी सबसे बड़ी देन हैं। १९१३ ई० में स्फूर्तिमय राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न उनकी सामयिक कृति 'भारत-भारती' द्वारा उनके काव्य का व्यापक प्रचार हिंदी जगत् में हुआ और वे हिंदी में निरतर रचना करते रहे। इन्होंने अपनी प्रारंभिक रचनाओं में देश-प्रेम एवं सामाजिक चेतना को सर्वत्र व्यापक निष्ठा के साथ व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

गुप्तजी का 'साकेत', जिसकी प्रधान नायिका उर्मिला है, इनकी ख्याति का कारण है। 'साकेत' महाकाव्य की कोटि में रखा जाता है। जहाँ तक प्रबंध-काव्य में कथावस्तु के गठन का प्रश्न है, 'साकेत' में उसकी कमी है। 'साकेत' के द्वारा उन्होंने राम को लोक-जीवन में प्रतिष्ठित करने का नए युग के अनुरूप प्रयत्न किया। इस काव्य में नवीन और प्राचीन दोनों परिपाटियों की रचनाएँ खड़ीबोली में समन्वित ढंग से रखी गई हैं।

जहाँ तक भाषा तथा रचना-विधान का प्रश्न है, गुप्त जी की अधिकांश रचनाएँ सर्वत्र रसरंजित नहीं हैं। पर इसकी कमी भी नहीं। गुप्तजी ने पद्य रूपकों तथा चंपू काव्य की रचना भी की। इनकी रचनाओं में छायावादी ढंग के गीत 'झंकार' में संग्रहीत हैं। प्रतीकवादी काव्य की भी इन्होंने रचना की। इस दृष्टि से इनके काव्य की परिधि बड़ी ही व्यापक है। इनकी रचनाओं के नाम निम्नलिखित हैं:

काव्य: १. अनघ, २. अर्जन और विसर्जन, ३. अजित, ४. काबा और कर्बला, ५. किसान, ६. कुणाल गीत, ७. गुरुकुल, ८. गुरु तेगबहादुर, ९. चंद्रहास, १०. जयद्रथ वध, ११. जयिनी, १२. झंकार, १३. तिलोत्तमा, १४. द्वापर, १५. नहुष, १६. पत्रावली, १७ पंचवटी, १८. भारत-

भारती, १६. मंगलघट, २०. यशोधरा, २१. रंग में भंग, २२. विकट भट, २३. वैतालिक, २४. विश्व-वेदना, २५. वन वैभव, २६. बक-संहार, २७. साकेत, २८. सिद्धराज, २६. सैरंध्री, ३०. स्वदेश, ३१. शकुंतला, ३२. हिंदू, ३३. हिडिंबा, ३४. जय भारत।

पं० बद्रीनाथ भट्ट, मुकुटधर पांडे आदि कवियों ने छायावाद और द्विवेदीजी के काव्यादर्श के बीच का मार्ग ग्रहण किया। इस युग के अन्य प्रमुख कवि, जो सरल, सीधे ढंग से रचना करते रहे, उनका परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ब्रज भाषा तथा खड़ीबोली में कविता करनेवाले प्रमुख कवियों में से एक थे। उन्होंने 'रस-वाटिका' नामक पत्रिका निकाली तथा रसिक समाज की स्थापना ब्रज-भाषा के काव्य की उन्नति के लिए की। इनकी रचनाओं का संग्रह 'पूर्ण संग्रह' के नाम से प्रकाशित है।

पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा—इनका जन्म संवत् १६१६ और मृत्यु १६८६ में हुई थी। इनका अपने समय में अत्यंत सम्मान था। ये अत्यंत निर्भीक आर्यसमाजी थे। इनकी रचनाएँ बाद में खड़ीबोली में भी लोगों के सामने आयीं। वे सामाजिक व्यंग्य से ओत-प्रोत थीं। 'शंकर सर्वस्व' में इनकी रचनाएँ संकलित हैं।

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' त्रिशूल—उर्दू और हिंदी दोनों में भावपूर्ण सरस रचना करने वालों में इनका सम्मान है। यह कानपुर के कवियों में माने जाते हैं, जिन्होंने ब्रज एवं खड़ीबोली के सरस काव्य के साथ-ही-साथ काव्यकारों के निर्माण में भी योगदान किया। 'प्रेम-पचीसी', 'कुसुमांजलि', 'कृषक-क्रंदन' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

पं० रामनरेश त्रिपाठी—पं० रामनरेश त्रिपाठी हिंदी के द्विवेदी-कालीन कवियों में अपनी कविता के कारण सदैव ही स्मरण किए जाएँगे। उन्होंने समय और परिस्थिति के अनुकूल अपनी भावना को मूर्त रूप देने के लिए कथाएँ गढ़कर देश-भक्ति, कर्म और प्रेम सबके प्रति रसात्मक दृष्टिकोण उपस्थित किया। इन्होंने प्रकृति का स्वस्थ और

सुंदर रूप अपनी आँखों से देखकर अपने काव्य में उपस्थित किया। 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' इनकी तीनों रचनाएँ अत्यन्त उच्चकोटि की हैं।

जगदंबाप्रसाद 'हितैषी'—जगदंबाप्रसाद 'हितैषी' भी बड़े अच्छे रचनाकार हैं। इनकी सबसे बड़ी देन यह है कि प्राचीन परिपाटी को खड़ीबोली में प्रयुक्त किया।

अनूप शर्मा—प्रारम्भ में ये ब्रजभाषा में रचना करते रहे और बाद में खड़ीबोली की ओर इनका ध्यान गया। ये बुद्ध तथा जैन चरित्रों से बहुत ही प्रभावित दीखते हैं। इन्होंने स्फुट काव्यों के अतिरिक्त 'कुणाल', 'सिद्धार्थ' तथा 'वर्द्धमान' आदि काव्य-कृतियों की रचना की है।

ठाकुर गोपालशरण सिंह—इन्होंने स्फुट काव्य से लेकर प्रबंध-काव्यों तक की रचना की है। यद्यपि विषय की दृष्टि से इन्होंने छाया-वादी विषयों को ही चुना है, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति अपने ढंग पर सीधी-सादी पद्धति में की है। ये जीवन में काव्य की अभि-व्यंजना करनेवाले व्यक्ति थे। इनका प्रबंध 'बापू' पर भी प्रकाशित हुआ है। अन्य काव्य-रचनाएँ हैं—१. आधुनिक कवि २. कादम्बिनी, ३. ज्योतिष्मती, ४. माधवी, ५. मानवी, ६. संचिता, ७. सागरिका, और ८. सुमना।

पुरोहित प्रतापनारायण, तुलसीराम दिनेश तथा सोहनलाल द्विवेदी आदि भी सीधी-सादी पद्धति पर रचना करनेवाले कवि हैं। इन तीनों में पं० सोहनलाल द्विवेदी का स्थान इस माने में सर्वोत्तम है कि उनकी स्फुट और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनाओं में सरलता एवं देश-प्रेम है। इनकी भाषा भी अत्यंत ओजपूर्ण है।

सुभद्राकुमारी चौहान [जन्म सं० १९६१, मृत्यु सं० २००५]—आप जबलपुर की रहनेवाली राष्ट्रीय चेतना की जागरूक कवयित्री थीं। आपने देश-प्रेम के कारण कई बार जेल-यातनाएँ भी सहीं। काव्य के साथ ही कहानी और निबंध-लेखिका भी थीं। ये आधुनिक युग की कवयित्रियों में सर्वाधिक लोकप्रिय हुईं। 'झाँसी की रानी' उसका प्रमाण

है। नारी-जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति, पारिवारिक जीवन की अनुभूति, राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार एवं प्रसार, सोल्लास आशावादिता उनकी कविता के विषय थे। आपने इहलौकिक नारी-हृदय का सफल चित्रण किया है। आपकी रचनाओं के नाम हैं 'मुकुल', 'बिखरे मोती' और 'उन्मादिनी'।

गुरुभक्तसिंह 'भक्त' [जन्म सं० १६५०]—आपका जन्म जमानियाँ, ज़िला गाज़ीपुर में हुआ था। 'सरस सुमन', 'कुसुम-कुंज', 'वंशी ध्वनि', 'नूरजहाँ' तथा 'विक्रमादित्य' आपके काव्य हैं।

गुरुभक्तसिंहजी की रचनाओं में प्रकृति के सौंदर्य की मनोहर झाँकी मिलती है। वे प्रकृति के कवि हैं तथा प्रकृति के सधे हुए चित्रकार। 'नूरजहाँ' ने आपकी कीर्ति को अधिक प्रसारित किया है। मानव-हृदय के अन्तर्द्वन्द्व, पिपासायुक्त जीवन की कसक और प्रेम की चिर-जाग्रत भावनाओं का रेखांकन भक्तजी के इस काव्य में बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है। आपकी भाषा सरस चलती हुई खड़ीबोली है।

पं० श्यामनारायण पांडेय—बहुत शीघ्र ही जिन कवियों ने लोक में व्यापक ख्याति प्राप्त की, उनमें पं० श्यामनारायण पाण्डेय का नाम सीधे-सादे ढंग पर रचना करने वालों में पहले स्मरण किया जायेगा। आप सन् १६३१ में हिंदी जगत् के सम्मुख आये। इन्होंने हिंदू प्राणों को अनुप्राणित करनेवाली व्यापक घटनाओं और चरित्रों को अपने काव्य का विषय बनाया, जिसका परिणाम यह हुआ कि इनकी भावनाओं के प्रति लोगों का सहज आकर्षण है। इनकी रचनाएँ 'त्रेता के दो वीर', 'तुमुल', 'माधव', 'रिमझिम', 'हल्दीघाटी', 'आरती', 'जौहर', 'जय हनुमान' आदि हैं।

काव्य के विभिन्न वाद

छायावाद—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद देश एक नई स्थिति में था। अंग्रेजी शिक्षा ने भारत के अतीत के सांस्कृतिक गौरव के ज्ञान पर परदा डाल दिया। दूसरा वर्ग ऐसा था, जो पुरानी परिपाटी पर ही परिवर्तनों में जीवन और समाज का मूल्यांकन करता था तथा नई शिक्षा प्राप्त

लोगों के बिलकुल विरुद्ध था। ऐसी परिस्थिति में देश में कुछ ऐसे सजीव लोग थे, जिन्हें भारत के अतीत का ज्ञान तो था ही, वर्तमान सामाजिक ढाँचे से तथा उसके प्रभाव से परिचित तो थे ही, साथ ही उनके सामने भावी सामाजिक निर्माण का अपना पथ भी था जो भारतीय होते हुए भी रूढ़िवादी नहीं, अपितु विकासवादी समन्वय-प्रधान मनस्तत्व था। ऐसे लोग सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक सभी क्षेत्रों में थे।

जहाँ एक ओर हिंदी कविता रीतिकाल की बँधी-बधाई शब्दावली के भावाभिव्यंजन प्रणाली के पथ पर थी, वहीं दूसरी ओर या तो तुकबंदी में गद्य-सी रचना काव्य के नाम पर होती थी या कुछ बँधे-बँधाये आदर्शों और मान्यताओं के भीतर, जिसमें स्वदेश-प्रेम, राष्ट्रीयता, शिक्षा आदि विषय थे, जिसमें कवि को संचरण करना पड़ता था। हिंदी साहित्य में कवि के रूप में जितने लोग विद्यमान थे उनमें कुछ ही ऐसे लोग थे जिनकी अधिकांश रचनाएँ सरस बन पड़ीं। रूढ़िवादिता तथा मशीनों के उत्पादन की नीरसता तत्कालीन काव्य में है। ऐसे ही समय कुछ ऐसे कवि हिंदी में आये जो वर्तमान कविता से अपना सामंजस्य स्थापित न कर सके। उनकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि वह आवरण ही नहीं, अंतस्तल तक पहुँचना जानती थी। उनमें मशीन की निर्जीवता नहीं, अपितु जीवित व्यक्ति की चेतना थी। विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव तो उनके मन पर पड़ता ही था, उनका अपना भी एक संसार था, जिसमें सुख-दुःख सब-कुछ था। अपने मन और आँखों से देखनेवाले, अपनी अंतर भावनाओं से वातावरण का सामंजस्य स्थापित करनेवाले ये कवि छायावादी कवि के नाम से तथा इनकी कविता छायावाद के नाम से संबोधित की जाने लगी।

सन् १९२० से ही हिंदी में छायावाद शब्द व्यापक रूप से प्रचारित होने लगा था। प्राचीन परिपाटी के लोग उपहास करने की दृष्टि से इन नवीन रचनाओं का संबोधन छायावाद शब्द से करते थे। नई पद्धति के कवियों ने इस शब्द को स्वीकार कर लिया। जहाँ तक छायावादी नाम-विधान का प्रश्न है वहाँ तक इसे केवल इस बात तक सीमित रखना

चाहिये कि जिन कविताओं में तत्कालीन परिस्थितिजन्य भावनाओं की छाया के कारण रूढ़िग्रस्त कविता से हिंदी काव्य मुक्त हुआ, वे ही रचनाएँ उस समय छायावाद के नाम से पुकारी गयीं।

कवि का सारा सुख-दुःख, आशा-निराशा इस कशमकश में प्रकृति को आधार बनाकर प्रकट हुई। मन की छाया प्रकृति में मिली। दुःख से व्याकुल कवि फूल पर पड़ी ओस की बूंदों को अपने आँसू समझने लगा। प्रेमी मन कलिका की मुसकान को प्रेयसी की मुसकान मान बैठा। अंतर से प्रकृति का तादात्म्य उसने स्थापित किया। उसी 'मैं' को उसने प्रकृति का आलंबन लेकर व्यक्त करना आरंभ किया। 'मैं' प्रधान होते हुए भी 'मैं' की छाया मात्र इस काव्य में प्रधान हुई। इस छाया-रचना में प्रकृति तो चित्र की भाँति सामने आयी, पर कलाकार का मन मूक किंतु शत-शत भाव-संकेतों में प्रच्छन्न अभिव्यक्त हो उठा और ऐसी ही रचना छायावाद के नाम से संबोधित की जाने लगी।

छायावाद से बाहर के कवियों तथा अन्य वादों के कवियों पर इसका प्रभाव पड़ा। हृदय-तत्त्व प्रधान होने के कारण हिंदी-कविता को छायावाद ने रसमय प्रणाली पर प्रवाहित किया। मधुर नूतन शब्द-चयन, सुन्दर भाव-विधान, पूर्ण सौंदर्याभिव्यक्ति के कारण छायावादी काव्य सहृदयों के लिए व्यापक आकर्षण का कारण बना और पुरानी परिपाटी तथा द्विवेदीजी के अनुगामी कवि भी इस नवीन रचना-विधान से प्रभावित हुए। कहीं कल्पना, कहीं अनुभूति और कहीं चिंतन की प्रधानता इस युग के काव्य में दीख पड़ती है। इस युग की अधिकांश रचनाएँ दार्शनिकता से प्रभावित हैं, जिनमें बहुत-सी बौद्ध दर्शन के धरातल पर हैं, उनमें जीवन और दर्शन का तादात्म्य नहीं है।

प्रसाद के 'झरना' के प्रकाशन के पश्चात् ही छायावाद की जड़ हिंदी-कविता के क्षेत्र में जमी। मुकुटधर पाण्डेय की दूसरे दशक की रचनाएँ छायावाद के निकट की हैं, पर काव्य में व्यापक रूप से इस धारा का प्रवर्त्तन करने वाले कवियों के रूप में प्रसाद, पंत और निराला हैं।

यद्यपि सामाजिक और दार्शनिक चेतना से अभिभूत रचनाएँ भी

छायावादी शैली में की गयीं, उनमें कलात्मक अभिव्यक्ति भी दिखाई पड़ी, पर वे उद्बोधन की शक्ति से या तो हीन थीं या सोने की कटार थीं। देश के मन में एक उमंग-भरा जोश बढ़ता जा रहा था, जिसके लिए छायावाद के पास अभिव्यक्ति न थी; क्योंकि छायावादी रचनाकार सामाजिक की अपेक्षा दार्शनिक चिन्तनशील प्राणी अधिक थे। दो कवि माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ऐसे कवि थे जो देश के लिए उत्सर्ग करने के साथ-ही-साथ अपने सुख-दुःख का मूल्य भी समझते थे। ये बीच के व्यक्ति ठहराये जा सकते है, जिनमें कभी छाया-वादियों की-सी प्रवृत्ति दीख पड़ती है तो कभी वे समाजसेवी के रूप में राष्ट्रीयता की दहाड़ करने लगते हैं।

छायावादी रचनाकारों के सामने अपना व्यक्तित्व था। उसी रास्ते पर, जो सांस्कृतिक अधिक था, समाज को वे ले चलना चाहते थे, पर सामाजिक जागृति संघबद्ध हो एक उद्देश्य के लिए एक रास्ते पर चलना चाहती थी; क्योंकि यह बात जन-मन में समा गई थी कि सारे अनर्थ का मूल परतंत्रता है, अतएव जन-जीवन तथा छायावादी कवियों का रास्ता विलग-विलग हो गया।

रहस्यवाद—छायावाद का कवि प्रकृति के भीतर अपने हृदय की छायामात्र देखकर संतोष प्राप्त न कर सका, अपितु उसके भीतर व्याप्त चिरंतन सौंदर्य से भी वह संवेदनशील मन का निरंतर नाता जोड़ने लगा। प्रकृति जिस अमर सौंदर्य की छायामात्र है उसके प्राणतत्त्व के रहस्य का भी उद्घाटन कवि करने लगे तथा अपने हृदय की भावनाओं से उस रहस्य-सौंदर्य का तादात्म्य स्थापित करने लगे। इसी संकल्पात्मक अनुभूति की काव्यमयी अभिव्यक्ति को रहस्यवाद की संज्ञा दी गयी।

रहस्यवाद हिंदी कविता के लिए नयी बात नहीं। पर सिद्धों एवं संतों के रहस्यवाद से यह छाया-रहस्य अनेक अर्थों में अलग है। मूल रूप से इसके पीछे साधनासम्पन्न अनुभूतियों का आधार नहीं, चिन्तनशील बौद्धिकता विराजमान है। विभिन्न दर्शनों के बौद्धिक प्रभाव की प्रक्रिया की अभिव्यक्ति छायावादी रचना-शैली पर आधुनिक रहस्यवाद में की गयी।

ऐसे तो आधुनिक अनेक कवियों की रचनाओं में रहस्यवाद के सूत्र का उल्लेख किया जा चुका है, पर रहस्यवादिता की व्यापक छाप महादेवी के गीतों में है। चिरविरह की पीड़ा से आक्रान्त स्नेह-पथ पर महाज्योति से मिलन की साध उनके विरह-निवेदन के रहस्य-पदों में है। निराला वेदांती रहस्यवादी हैं तथा स्वामी विवेकानंद के सिद्धान्तों से अनुप्राणित हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा की भी कुछ रचनाएँ रहस्यवाद के अंतर्गत रखी जा सकती हैं। प्रसादजी के रहस्यवाद में शैव-आनंद की आधारशिला है।

बौद्धिक दार्शनिकता से बोझिल ये रचनाएँ भी जन-जीवन को अनुप्राणित करने वाली न हो सकीं, केवल दार्शनिकता की बौद्धिक विह्वलता का इनमें दर्शन हुआ। बुद्धि को दार्शनिक अभिव्यक्ति के अनुरूप मोड़ने के कारण भावों की एकरूपता सहृदयों का मन भी अधिक देर के लिए न लुभा सकी। छायावाद तथा रहस्यवाद के प्रमुख कवियों की उपलब्धि इस प्रकार है।

जयशंकर प्रसाद—प्रसादजी का जन्म माघ शुक्ल १० संवत् १९४६ वि० में सरायगोवर्धन, काशी में एक सम्पन्न कुल में हुआ था। प्रसादजी की प्रारम्भिक शिक्षा काशी में क्वींस कॉलेज में हुई, किंतु बाद में घर पर संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा फारसी का अध्ययन उन्होंने किया। घर के वातावरण के कारण साहित्य और कला के प्रति उनमें प्रारम्भ से ही रुचि थी। एकादशी सं० १९९३ (१५ नवम्बर, १९३६ ई०) को उनका देहांत काशी में हुआ। उन्हें 'कामायनी' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

प्रसादजी ने अनन्य गौरवशाली साहित्य की सृष्टि की। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और निबंध, साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में उन्होंने ऐतिहासिक महत्त्व की रचनाएँ कीं तथा खड़ीबोली की श्रीसंपदा को महान् और मौलिक दान से समृद्ध किया। उनकी प्रकाशित कृतियों के नाम हैं :

उर्वशी (चंपू); सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य (निबंध); शोकोच्छ्वास (कविता); प्रेमराज्य (कविता); सज्जन (एकांकी), कल्याणी परिणय

(एकांकी); छाया (कहानी-संग्रह); कानन-कुसुम (काव्य); करुणालय (गीतिकाव्य); प्रेम-पथिक (काव्य); प्रायश्चित (एकांकी); महाराणा का महत्त्व (काव्य); राज्यश्री (नाटक), चित्राधार (इसमें उनकी २० वर्ष तक की ही रचनाएँ हैं); झरना (काव्य); विशाख (नाटक); अजातशत्रु (नाटक); कामना (नाटक); आँसू (काव्य); जनमेजय का नागयज्ञ (नाटक); प्रतिध्वनि (कहानी-संग्रह); स्कंदगुप्त (नाटक); एक घूँट (एकांकी); आकाशदीप (कहानी-संग्रह); कंकाल (उपन्यास); चंद्रगुप्त (नाटक); आँधी (कहानी-संग्रह); ध्रुवस्वामिनी (नाटक); तितली (उपन्यास); लहर (काव्य-संग्रह); इंद्रजाल (कहानी-संग्रह); कामायनी (महाकाव्य); इरावती (अधूरा उपन्यास); प्रसाद-संगीत (नाटकों में आए हुए गीत)।

काव्य—प्रसाद ने काव्य-रचना ब्रजभाषा में आरंभ की और धीरे-धीरे खड़ीबोली को अपनाते हुए इस भाँति अग्रसर हुए कि खड़ीबोली के मूर्धन्य कवियों में उनकी गणना की जाने लगी और वे युगप्रवर्तक कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उनकी काव्य-रचनाएँ दो वर्गों में विभक्त हैं—काव्यपथ के अनुसंधान की रचनाएँ और रससिद्ध रचनाएँ। 'आँसू', 'लहर' तथा 'कामायनी' दूसरे वर्ग की रचनाएँ हैं। इन समस्त रचनाओं की विशेषताओं का आकलन करने पर हिन्दी-काव्य को प्रसादजी की देन बहुत ही अधिक है। उन्होंने हिन्दी-काव्य में छायावाद की स्थापना की जिससे खड़ीबोली के काव्य में कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई और वह काव्य की सिद्ध भाषा बन गई। उनकी सर्वप्रथम छायावादी रचना 'खोलो द्वार' १९१४ ई० में 'इंदु' में प्रकाशित हुई। वे छायावाद के प्रतिष्ठापक ही नहीं अपितु छायावादी पद्धति पर सरस संगीतमय गीतों के लिखने वाले श्रेष्ठ कवि भी हैं। उन्होंने 'करुणालय' द्वारा गीत-नाट्य का भी आरंभ किया। उन्होंने भिन्न तुकांत काव्य लिखने के लिए मौलिक छंदचयन किया और अनेक छंद उसके लिए अपनाए। खड़ीबोली में २१ मात्रा के अरिल्ल छंद का संभवतः उन्होंने सबसे पहले प्रयोग किया। चतुर्दशपदियों और सॉनेट पर उन्होंने जीवन-भर प्रयोग किया। अमूर्त उपमानों का उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रारम्भ से ही

प्रयोग किया। उन्होंने नाटकीय ढंग पर काव्य-कथा-शैली का मनोवैज्ञानिक पथ पर विकास किया। साथ ही कहानी-कला की नयी तकनीक का संयोग काव्यकथा से कराया। प्रगीतों की ओर विशेष रूप से उन्होंने ध्यान दिया।

काव्य-क्षेत्र में प्रसाद की कीर्ति का मूलाधार 'कामायनी' है। खड़ी-बोली का यह अद्वितीय महाकाव्य मनु और श्रद्धा को आधार बनाकर रचित मानवता को विजयिनी बनाने का संदेश देता है। यह रूपक-कथा काव्य भी है जिसमें मन, श्रद्धा और इड़ा (बुद्धि) के योग से अखंड आनंद की उपलब्धि का रूपक प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के आधार पर संयोजित किया गया है। उनकी यह कृति छायावाद और खड़ीबोली की काव्य-गरिमा का सर्वोत्तम उदाहरण है।

कहानी तथा उपन्यास—कथा के क्षेत्र में प्रसादजी आधुनिक ढंग की कहानियों के आरंभयिता माने जाते हैं। सन् १९१२ ई० में 'इंदु' में उनकी पहली कहानी 'ग्राम' प्रकाशित हुई। प्रायः तभी से गतिपूर्वक आधुनिक कहानियों की रचना हिंदी में आरंभ हुई। प्रसादजी ने कुल ७२ कहानियाँ लिखी हैं। उनकी अधिकतर कहानियों में भावना की प्रधानता है, किंतु उन्होंने यथार्थ की दृष्टि से भी कुछ श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी हैं। उनकी वातावरण-प्रधान कहानियाँ अत्यन्त सफल हुई हैं। उन्होंने ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक एवं पौराणिक कथानकों पर मौलिक एवं कलात्मक कहानियाँ लिखी हैं। भावना-प्रधान प्रेम-कथाएँ, समस्या-मूलक कहानियाँ, रहस्यवादी, प्रतीकात्मक और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उत्तम कहानियाँ भी उन्होंने लिखी हैं। ये कहानियाँ भावनाओं की मिठास तथा कवित्व से पूर्ण हैं। प्रसादजी भारत के उन्नत अतीत का जीवित वातावरण प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त थे।

प्रसादजी ने तीन उपन्यास लिखे हैं। 'कंकाल' में नागरिक सभ्यता का आंतर यथार्थ उद्घाटित किया गया है, 'तितली' में ग्रामीण जीवन के सुधार के संकेत हैं। प्रथम यथार्थवादी उपन्यास है, दूसरे में आदर्शोन्मुख यथार्थ है। इन उपन्यासों के द्वारा प्रसादजी हिंदी में यथार्थवादी उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में अपनी गरिमा स्थापित करते हैं। 'इरावती'

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया इनका अधूरा उपन्यास है जो रोमांस के कारण ऐतिहासिक रोमांस के उपन्यासों में विशेष आदर का पात्र है।

नाटक—प्रसाद ने आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक, कुल १३ नाटकों की सर्जना की। 'कामना' और 'एक घूंट' को छोड़कर ये नाटक मूलतः इतिहास पर आधारित हैं। इनमें महाभारत से लेकर हर्ष के समय तक के इतिहास से सामग्री ली गई है। वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। उनके नाटकों में सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना इतिहास की भित्ति पर संस्थित है। उनके नाटकों पर अभिनय न होने का आरोप है। किंतु उनके अनेक नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं।

निबंध—प्रसाद ने प्रारंभ में समय-समय पर 'इंदु' में विविध विषयों पर सामान्य निबंध लिखे। बाद में उन्होंने शोधपरक तथा ऐतिहासिक निबंध, यथा 'सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य', 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' आदि, भी लिखे हैं। ये उनकी साहित्यिक मान्यताओं की विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक भूमिका प्रस्तुत करते हैं। विचारों की गहराई, भावों की प्रबलता तथा चिंतन और मनन की गंभीरता के ये जाज्वल्यमान प्रमाण हैं।

कुल मिलाकर ऐसी विविध प्रतिभा का साहित्यकार हिंदी में कम ही मिलेगा जिसने साहित्य के सभी अंगों को अपनी कृतियों से समृद्ध किया हो। आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में इनके कृतित्व का गौरव अक्षुण्ण है।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (सन् १८९६—१९६१)—पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' हमारे महान् सांस्कृतिक कवि हैं। निराला जी की जीवन-साधना, आराधना का पुंजीभूत मूर्त रूप था। जितने विविध-प्रौढ़ प्रयोग उन्होंने आधुनिक हिंदी कविता में किए, उतने अन्य किसी ने नहीं।

युग का कवि जिस समय नवीन काव्य की सृष्टि के लिए विह्वल था, उसी समय छायावादी काव्य के प्रतिष्ठापकों के रूप में पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' क्रांतदर्शी मौलिकता लेकर आए। निरालाजी ने छायावाद की संकल्पात्मक श्रीवृद्धि में क्रांति उपस्थित की। उनकी ओर

सबका ध्यान एकाएक निर्बाध छंदों के कारण आकृष्ट हुआ। इन्हीं छंदों के कारण 'निराला' को रूढ़िग्रस्त कविता-प्रेमियों की भर्त्सना का भाजन बनना पड़ा। उनकी 'जुही की कली' का प्रकाशन क्रांति उपस्थित करने में सफल रहा। प्राय: लोग यह समझते थे कि भाव सदैव छंद की कारा में बंदी रहते हैं, पर निराला ने भावों के संकेत पर छंदों का प्रणयन किया।

उनकी रचनाओं में कल्पना की सूक्ष्मता, कला की बारीकियों के द्वारा जिस रूप में अभिव्यक्त हुई, वह हिंदी-काव्य के लिए गौरव की बात है। निरालाजी की स्वच्छंदता उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। उनमें कल्पना से लेकर नए प्रयोगों तक जिस गंभीरता के साथ यह स्वच्छंदता दीख पड़ती है, उतनी हिंदी के किसी अन्य कवि में नहीं। स्वच्छंदता में भी भावों की शृंखला उनकी विशेषता है। 'परिमल' में उनकी मौलिकता तथा युगविधायी कृतित्व की क्षमता मिलती है। शृंगार की जो भावना 'परिमल' में अंकुरित दीख पड़ती है, 'गीतिका' उसका विश्राम है। सहज मानवीय स्वस्थ गंभीर संवेदनशील भावना तथा लय की झंकार के कारण 'गीतिका' में एक मनोहर मौलिक अभिव्यक्ति है। इन गीतों की भाषा संस्कृतबहुल है। इस कृति का हिंदी के गीति-काव्यों में गौरवशील स्थान है। 'गीतिका' के बाद निराला का विराट रूप हिंदी-जगत् के सामने उपस्थित हुआ, जिसमें प्रयोग की विविधता, काव्य-शक्ति की पूर्ण प्रौढ़ता दीख पड़ती है। 'राम की शक्तिपूजा', 'सरोज-स्मृति' जैसी भावना-प्रधान रचनाएँ, जो हिंदी की श्रेष्ठतम सुंदर कृतियों में से हैं, निरालाजी ने इसी समय रचीं। सौ छंदों में गौड़ीय पद्धति पर निर्मित निराला की 'तुलसीदास' रचना अपने स्थान पर आज भी अकेली है।

'कुकुरमुत्ता' में व्यंग्य-प्रधान शैली में, चलती भाषा में जिस प्रकार पूँजीपति के प्रतीक गुलाब तथा जनता के प्रतीक कुकुरमुत्ता को उपस्थित कर व्यंग्य-चित्रण किया है, वह व्यंग्य-साहित्य के इतिहास में अपनी मौलिकता के कारण अत्यंत महत्त्व का है। 'अणिमा' और 'अर्चना' इसका उदाहरण हैं। उन्होंने 'बेला' और 'नए पत्ते' के छंदों में और नया प्रयोग किया। कवि की मूल भावनाओं का विकास 'अर्चना' और 'आराधना'

के गीतों में है। इन दोनों में भावना की जिस तन्मयता का दर्शन होता है वह आधुनिक हिंदी गीतकारों में गंभीरता की दृष्टि से किसी भी कवि में नहीं मिलता। उस निष्ठा में जहाँ एक ओर तुलसी की भाँति हृदय-निवेदन की असीम विनम्रता है, वहीं सूर और मीरा के गीतों की टीस-भरी रसमयता भी है।

'गीत-गुंज' उस साधना-परंपरा का वह स्वर है, जो आत्मद्रष्टा ने जीवन के प्रांगण में देखा है। निराला जीवन से भागने वाले नहीं, उसके बीच रहकर जीवन का दर्शन करने वाले थे। हृदय की उमंग से निकली काव्य की वास्तविक धारा से काव्य की मरुभूमि को पुष्पों के सौरभ से सुरभित करने वाले कुछेक लोगों में निरालाजी थे। निरालाजी की समस्त वाणी जो इन गीतों में संरक्षित है वह उनके हृदय का स्वर है। उन भावों का उन्होने साक्षात्कार किया है।

वे कर्म-प्रधान भावनाओं पर आधृत मर्मों को उद्घाटित करनेवाले प्रमुख कथाकार भी हैं। उनकी गद्य-शैली अपनी है। उन्होंने आलोचनाएँ तथा गंभीर लेखों का प्रणयन भी आवश्यकतानुरूप किया है। सन् १९२३-२४ में ही, 'रवीन्द्र-कविता-कानन' द्वारा रवीन्द्र को उन्होंने समझा और समझाया है। वे सफल संस्मरण-लेखक भी थे। उन्होंने अनुवाद भी किया। उनकी प्रमुख गद्य-रचनाओं के नाम हैं: 'निरुपमा', 'प्रभावती', 'अलका', 'अप्सरा', 'कुल्ली भाट', 'कालाबाजार', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'प्रबंध-प्रतिमा', 'रवीन्द्र कविता कानन', आदि।

सुमित्रानंदन पंत (जन्म सं० १९५८)—छायावाद की वृहद्त्रयी में पंतजी का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। अलमोड़ा के कौसानी नामक ग्राम में ये उत्पन्न हुए। काशी तथा प्रयाग में इन्हें शिक्षा मिली। प्रकृति की सुषमा ने उन्हें वाणी दी। प्रकृति के साहचर्य ने वाणी को झंकार दिया और वह गीत बनकर गूँज उठी।

उनमें भावुकता सर्वत्र झलकती है। इनमें ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, समय के साथ बौद्धिक चेतना बढ़ती गयी। 'पल्लव' में ही उसके बीज का साक्षात्कार होता है। 'परिवर्तन' शीर्षक कविता जहाँ एक ओर इनकी ध्वनि-शक्ति का परिचय देती है, वहीं दूसरी ओर वह बौद्धिक

परिवर्तन के धरातल का भी संकेत देती है। इस परिवर्तन में दिया गया यह संकेत दिनोत्तर उनके काव्य में विकसित होता गया। इनकी कृतियों पर जहाँ तक भावना का प्रश्न है और कहीं-कहीं शब्द-चयन का भी प्रश्न है, बंगला का प्रभाव दीखता है तथा वे अंग्रेज़ी कविता से भी प्रभावित दीखते हैं। 'पल्लव' के पूर्व की रचना उनके उल्लास, आशा, वेदना, स्मृति, प्रकृति-प्रेम तथा असफल प्रेम की भावभंगिमा अपने भीतर छिपाये हुए है। पंतजी का 'पल्लव' उन्हें हिंदी काव्य-क्षेत्र में प्रौढ़ भित्ति पर रखता है। चमत्कार और वक्रता की प्रवृत्ति, शब्दों में माधुर्य लाने के लिए तोड़-मरोड़ एवं पाश्चात्य कविता का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। उन्होंने कहीं-कहीं प्रकृति को आलंबन बनाकर रूपक और उपमा के सहारे सूक्ष्म मार्मिक कार्य-व्यापारों का बड़ी ही तन्मयता तथा सुन्दरतापूर्वक सजीव चित्रण भी किया है। इस संग्रह में अनेक रचनाएँ प्रथम कोटि की हैं। इसके भीतर आध्यात्मिक रहस्य-चेतना की झलक भी दीख पड़ेगी। प्रियतम की छाया समझकर विश्व को प्रेम करने के लिए ललक का बीज दीख पड़ेगा। रहस्यवादी कही जानेवाली रचनाएँ भी स्वाभाविक ढंग से इसमें हैं, यथा 'स्वप्न' और 'निमंत्रण'। छायावाद में जितने भी कवि हुए प्रकृति के प्रति जितना सुन्दर सहज प्रेम उन्होंने व्यक्त किया उतना अन्य कोई न कर सका। चित्रमयी भाषा इस भावभंगिमा में प्राण डाल देती है और इसी में संगृहीत उनकी 'परिवर्तन' शीर्षक कविता जीवन के चिंतन का संकेत-भर ही नहीं देती, अपितु उनकी भावी काव्य-प्रतिष्ठा का संकेत भी देती है। 'गुंजन' में जहाँ 'पल्लव' के भाव-बीजों का संतुलित विकास दीख पड़ता है, वहीं बौद्धिक प्रभाव भी बढ़ता दीख पड़ता है। 'युगांत' में कवि जीवन के वास्तविक प्रवेशद्वार में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है।

शुक्लजी ने लिखा है, "युगांत में आकर यह सौंदर्य और आनंद का जगत् में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है।" यह बात दर्शन तक ही सीमित है। 'युगवाणी' का कवि पंत तो उग्र राजनीतिक भावधारा में स्पष्ट बहता दीखेगा।

पंतजी ने ग्रामीण जीवन के सरस, सुंदर चित्र 'ग्राम्या' में खींचे हैं। ध्वनिमय काव्य-शैली वहाँ भी मुखर हो उठी है। जहाँ सिद्धान्तों के

विवेचन के चक्कर में पड़े हैं, वहाँ उनकी बौद्धिकता भावुकता को ढँक लेती है। इसके बाद पंतजी के काव्य में मोड़ दीख पड़ता है। अरविंद दर्शन की बौद्धिक चिंतनशीलता ही अधिक दीख पड़ेगी। इधर की रचनाओं—'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' आदि में उसका प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। समसामयिक राजनीतिक एवं सामाजिक विषयों पर भी इधर उनकी रचनाएँ बराबर निकलती रही हैं। 'अतिमा', 'कला और बूढ़ा चाँद' और 'उत्तरा' उनकी विशिष्ट रचनाएँ हैं। 'लोकायतन' इनका महाकाव्य है जो अरविंद-दर्शन और पंतजी के अंतश्चेतनावाद से पूर्णतः प्रभावित है। उन्होंने गीति-नाट्य, कहानियाँ तथा निबंध लिखे हैं जो सामान्यतः अच्छे हैं। पंतजी ने खड़ीबोली को माधुर्य प्रदान किया है, छायावाद के काव्य-प्रतिष्ठान के क्षेत्र में भी उनकी मान्यता ऐतिहासिक महत्त्व की है।

इधर पंतजी की अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। उनमें दर्शन का लोभ अधिक होने के कारण काव्य-तत्त्व का समुचित सम्मान नहीं हो सका है, फिर भी वे हिंदी के जीवित कवियों में मुकुट-मणि हैं।

महादेवी वर्मा (जन्म सं० १९६४)—आप फर्रुखाबाद में उत्पन्न हुईं। आजकल प्रयाग महिला विद्यापीठ में आचार्या हैं तथा छायावादी काव्य-शिल्प के विकास की अंतिम कड़ी हैं। छायावाद के प्रवर्द्धन में महादेवी के काव्य ने विशेष प्रकार का योग दिया।

प्रारंभ में महादेवीजी ने सामाजिक तथा राष्ट्रीय ढंग के गीत लिखे, उनकी मौलिक प्रतिभा का दर्शन छाया-रहस्यमय गीतों में हुआ।

महादेवी को प्रकृति के प्रांगण में प्रतिबिम्बित चिरंतन सौंदर्य का बौद्धिक आभास लगा और उसकी छाया सर्वत्र उन्हें दीख पड़ी। उस सौंदर्य के मूल अदृश्य से मिलन उन्हें जीवन का साध्य लगा। महादेवीजी ने उससे विलगाव का अनुभव किया। महादेवीजी का हृदय जीवन की विरहवेला में महामिलन के लिए व्याकुल हो फूट पड़ा।

सुख लोगों को उच्छृंखल बना देता है तथा सुख और करुणा लोगों को एक सूत्र में बाँध सकती हैं—यही भावना महादेवी के गीतों का आधार है। करुणा-प्रधान बौद्ध दर्शन से महादेवीजी प्रभावित हैं। उनका

जीवन इस दार्शनिक अभिव्यक्ति के अधिक उपयुक्त है।

उनकी इस दार्शनिक अभिव्यक्ति को कल्पना के लोकमात्र तक ही सीमित समझना उनके काव्य के प्रति अधिक न्याय करना होगा। इस कल्पना-लोक को उन्होंने पीड़ा से सँवारा है। इस संबंध में उनका स्वयं कहना है—"दुख मेरे निकट जीवन का एक खुला काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किंतु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परंतु दुःख में सबको बोरकर विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।"

वेदना के प्रति महादेवी इतनी अधिक आसक्त है कि वही उनके समस्त काव्य के भीतर दीख पड़ेगी। उन्हें अमर लोक तथा मिलन की कामनाएँ भी वेदना की प्रतीक्षा-भरी घड़ियों के सामने तुच्छ लगती हैं। वे कभी-कभी प्रिय के आने की कल्पना करती हैं, किंतु उनके प्रियतम की पदचाप पलकों के स्वर से भी धीमी है। अतएव निभृत निशीथ की सहज कल्पना उनके काव्य में मिलेगी। उनके भीतर वेदना की टीस भरी है जो काव्य में प्रकृति का आलंबन लेकर अभिव्यक्त की गई है। नारी-हृदय गीतों की रचना के लिए अधिक उपयुक्त है। करुणा, स्नेह, भावुकता और कोमलता-भरे उच्छ्वास उनके लिए अधिक अनुकूल हैं। यह अनुकूलता उनके गीतों में गेयता, रागात्मकता भर देती है। संस्कृत की कोमलकांत पदावली की सरसता उनके गीतों में मिलेगी। कल्पनाओं और विचारों की शृङ्खला अनेक स्थानों पर अस्त-व्यस्त दीख पड़ेगी। जहाँ तक लोक-मंगल का प्रश्न है, इनके गीतों में कल्याण की भावना कहाँ तक है यह तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन इनके गीतों को गुन-गुनाने की इच्छा अवश्य होती है। यह कम सफलता की बात नहीं है। भावों की एकरूपता के कारण गीतों की परिधि व्यापक नहीं है।

महादेवी ने सुंदर गद्य भी लिखा है। उनकी गद्य की अपनी निजी,

चित्रमय, तर्कप्रधान, भावात्मक कोमल शैली है, जिसका दर्शन उनकी भूमिकाओं में भी मिलेगा। उन्होंने रेखाचित्र भी लिखे हैं जो 'अतीत की स्मृतियाँ' और 'शृंखला की कड़ियाँ' में संगृहीत हैं।

प्रगतिवाद—प्रगतिवाद के उद्भव की आधारशिला सामाजिक तथा राजनीतिक जागरूकता है। सन् १९३४ ई० के आसपास देश की राजनीतिक स्थिति एक नयी दिशा की ओर उन्मुख हुई। सत्य, अहिंसा के सिद्धांतों के कारण व्यापक साधना का विधान नवयुवकों के लिए न केवल खलने वाला प्रमाणित हुआ, अपितु उनके भीतर रूस की सफलता के कारण साम्यवादी एवं समाजवादी भावनाएँ भी ज़ोर पकड़ने लगीं। किसानों और मजदूरों के देश भारत में बिना उनकी आर्थिक स्थिति सुधारे किसी प्रकार की उन्नति की आशा नहीं की जा सकती, इस तथ्य को सभी जानते और मानते थे। ऐसे लोगों की कमी देश में न थी, जो इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साहित्य के व्यापक उपयोग का प्रयत्न करना चाहते थे। वे साहित्य की महत्ता से परिचित थे। साहित्यिक क्षेत्र में जनवादी विचारों के महान् प्रतिष्ठापक के रूप में तब तक प्रेमचंदजी की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और सन् १९३६ में लखनऊ में उन्हीं के सभापतित्व में प्रगतिशील लेखक-संघ का पहला अधिवेशन हुआ, जिसमें प्रेमचन्दजी ने हिंदी-लेखकों से निवेदन करते हुए सामान्य जनता के आर्थिक और सामाजिक मंगल के लिए साहित्य-निर्माण करने की अपील की। द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ होने पर देश न केवल तटस्थ मात्र था अपितु स्वतंत्रता-प्राप्ति के निमित्त देश में अनन्य आंदोलन हुआ। सन् १९४३ के अकाल ने तो मौज-मस्तीवाले साहित्यकारों को भी रोमांचित कर दिया। फलतः इस भावना को निरंतर बल ही मिलता गया। देश में मानवतावादी जनमंगलकारिणी इस प्रगति-धारा का स्वागत भी हुआ। पर बाद के वातावरण में प्रगतिवादी साहित्य में दो प्रकार के खेमे स्थापित हुए, जिनमें एक को स्वतंत्र प्रगतिवादी और दूसरे को कम्युनिस्ट प्रगतिवादी कहा जा सकता है। जहाँ तक स्वतंत्र प्रगतिवादियों का प्रश्न है, उनमें नवीन, दिनकर, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पंत आदि की गणना की जा सकती है और दूसरे में

कम्युनिस्ट पार्टी के सिद्धांतों को आदर्श मानकर बंधों की। इधर स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्रगतिशील विचारधारा में दो कैम्प और दीख पड़ रहे हैं—एक समाजवादी विचारधारा से प्रभावित लोगों का, दूसरा सर्वोदयवादियों का। राजनीति के व्यापक प्रभाव के कारण राजनीतिक विचारधाराओं में राजनीतिक दलों की भाँति ये भी बँटे हैं।

प्रगतिवाद समाज के भौतिक विकास में विश्वास रखनेवाला, विकासशील जन-भावना की मान्यताओं को अभिव्यक्त करनेवाला साहित्य है। अप्रत्यक्ष सत्ता की अपेक्षा मानव की प्रत्यक्ष सत्ता पर उसका विश्वास है तथा समाज का मंगल इसका उद्देश्य। सर्वोदयवादी प्रगतिशील गांधीजी की विचारधारा को अपना आदर्श बताते हैं। इनमें भौतिक की अपेक्षा दार्शनिक चिंतनशीलता अधिक है। समाजवादी, प्रगतिशील, कम्युनिस्ट और गांधीवादी विचारधारा के कशमकश में हैं। कम्युनिस्टों का रास्ता साम्यवादी है। जहाँ तक जनता पर इनके प्रभाव का प्रश्न है, दिनकर आदि एक-दो कवियों को छोड़कर कोई भी जन-मन का उद्बोधन नहीं कर पाया। जनता की चीज़ कहकर भी जनता से दूर रहना, किसानों और मजदूरों की वकालत करके भी उनकी ओर न देखना जैसी अदृश्य विशेषता अधिकांश प्रगतिवादियों ने धर्म के रूप में अपना ली है।

प्रयोगवाद और नयी कविता—अंग्रेजी शिक्षा के विकास के साथ पढ़े-लिखे लोगों पर अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ रहा है। कुछ लोग विशेष रूप से टी० एस० इलियट और यीट्स की कविताओं से प्रभावित होकर कविता कर रहे हैं। इन प्रयोगवादियों में नयी संभावनाओं, नये विषय के नये रूप से प्रतिपादन तथा नये रचना-विधान की भावना है। अज्ञेय इस मनोवृत्ति के अगुआ हैं। यद्यपि उनके प्रयोग में एकरूपता नहीं है, तो भी वे अब एक ही दिशा में अनुसंधान कर रहे हैं। इन रचनाकारों में अनेक साम्यवादी विचारधारा की कविता करनेवाले प्रगतिशील लोग भी हैं। ये कविता को मानव के अस्तित्व के साथ मानते हैं और मानव-जीवन को परिवर्तन से नियंत्रित मानते हैं, अतएव कला के सभी क्षेत्रों में नूतन परिवर्तनों की अपेक्षा प्रत्येक युग में होने की बात भी उठाते हैं। परंपरा से प्राप्त विचारधाराओं से कोई

नाता इनका नहीं है, पर इनका काव्य जो सम्मुख है उसमें असामान्य तथा विचित्र ढंग से अभिव्यक्ति मिलती है। कल्पनाएँ भी अधूरे संकेतों तक सीमित हैं। हर परिवर्तन का आधार होता है और उसकी भाव-भूमि हुआ करती है। जिनका अतीत नहीं हुआ करता उनका वर्तमान और भविष्य भी नहीं हुआ करता। इन प्रयोगवादियों में अपनी अलग-अलग विशेषताएँ भी हैं। अज्ञेय में नये प्रतीक, गिरिजाकुमार माथुर में ध्वनि-साम्य, स्वर्गीय गजानन मुक्तिबोध की वैयक्तिक भावभूमि, प्रभाकर माचवे का इंद्रिय-विलास तथा नेमिचंद जैन, शमशेरबहादुर का साम्य-वादी रूप, इनकी विशेषताएँ हैं।

उन्मुक्त कवि—हर युग में मन के तराने पर काव्य-रचना करनेवाले कवि होते रहे हैं और वादों से आक्रांत आधुनिक हिंदी-काव्य में भी अनेक ऐसे कवि हैं। ये समय-समय पर अपने मन के सुख-दुख तथा अनुभूतियों से प्रभावित कर तथा समाजपरक रचना करते हैं। घटनाओं का प्रभाव भी उनके मन को प्रभावित कर उठता है और मन पर पड़े उक्त प्रभाव के कारण 'बच्चन' का स्थान मन की तरंगों पर रचना करनेवाले विह्वल भावशिल्पियों में ऐतिहासिक महत्त्व का है। शैली की दृष्टि से बच्चन ने आधुनिक युग में गीतों के क्षेत्र में युगांतर उपस्थित किया। इधर ग्राम-गीतों के रचना-विधान का संकेत अपने गीतों में उन्होंने दिया है।

माखनलाल चतुर्वेदी—अलमस्त राष्ट्रीय कवियों में इनकी गणना की जानी चाहिए। संस्कृत के समूह के शब्दों के बीच कहीं-कहीं उर्दू के शब्द ये इस प्रकार रख देते हैं कि कविता कहीं-कहीं कड़वी हो जाती है। अच्छे कवियों में इनकी गणना की जाती है।

स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की विशेषता उग्रता के साथ सुकुमारता की वक्र भाव-भंगिमा का संयोग है। 'उर्मिला' उनका महा-काव्य है। प्रदीप, स्व० गोपालसिंह नेपाली, नरेंद्र, शंभुनाथ सिंह, हंसकुमार तिवारी भी अच्छे गीतकार हैं। शिवमंगलसिंह 'सुमन' प्रगतिशील भी दीखते हैं, पर भावों को स्पर्श करने की क्षमता उनके गीतों में अधिक है। गिरिजाकुमार माथुर भी अच्छे गीतकार हैं।

दिनकर (जन्म सन् १६०८)—इनकी रचनाओं में सहज ही राष्ट्र-

प्रेम की अभिव्यक्ति हुई। आरंभ में इन्होंने कवित्त, सवैया और समस्या-पूर्तियाँ कीं, किंतु इनकी ख्याति हिंदी-साहित्य में सन् १६३५ के लगभग हुई। कवि की प्रौढ़ता का पूर्ण परिचय सन् १६४६ में प्रकाशित 'कुरुक्षेत्र' नामक प्रबंध-काव्य से मिलता है। आधुनिक हिंदी के प्रबंध-काव्यों में यह सुंदर है। विशिष्टता की दृष्टि से, जहाँ तक विचारोत्तेजना का प्रश्न है यह ग्रंथ ऐतिहासिक महत्त्व का है। इनकी दूसरी रचना प्रबंध-काव्य के क्षेत्र में १६५२ में 'रश्मिरथी' आयी। काव्य-तत्त्व एवं सरसता के कारण मैथिलीशरण गुप्त से अलग इसका महत्त्व है। 'उर्वशी' जितना विवादास्पद काव्य-ग्रंथ पिछले कई वर्षों में नहीं निकला। 'उर्वशी' में कवि मांसल प्रकृति का अनुगायक मात्र है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में दिनकर की हुंकार प्रिय प्रतीत होती है। दिनकरजी ने आलोचनात्मक तथा आत्म-व्यंजक निबंध भी लिखे हैं। उनमें अनेक प्रथम कोटि के हैं। इस दृष्टि से दिनकर आधुनिक हिंदी के वर्तमान कवियों में महत्त्व के हैं।

इन कवियों के अतिरिक्त सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, मोहनलाल महतो 'वियोगी', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', जानकीवल्लभ शास्त्री आदि भी प्रमुख कवि गिने जाते हैं। उनकी अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं। मैथिलीशरणजी के अनुज स्व० सियारामशरण गुप्त ने कवि-हृदय पाया था। उनकी रचनाएँ काव्य-तत्त्वों से सराबोर हैं।

भगवतीचरण वर्मा नवीन विचारों से प्रभावित मानवीय दृष्टि वाले कवि हैं। श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' हिंदी के प्रौढ़ सरस कवियों में हैं। जानकीवल्लभ शास्त्री सरस सांस्कृतिक गीतों के प्रौढ़ रचनाकार हैं।

इस युग के अनेक कवि मांसल सौंदर्य की ओर भी उन्मुख होते दीख पड़े। जिनके साहसिक गीतों की प्रशस्ति हिंदी में की गयी, उनमें अंचल की गणना प्रमुख रूप से की जाती रही है।

हिन्दी गद्य का स्वर्ण-काल

इस युग में विकास की दृष्टि से पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक उन्नत हुआ। ऐसे तो बीसवीं शताब्दी के पूर्व ही स्वस्थ गद्य का प्रारम्भ हो गया था, पर इस शताब्दी में गद्य का उन्नयन अत्यन्त व्यापक पैमाने पर हुआ। गद्य के सभी अंगों का पल्लवन और विकास भी हुआ। अत्यन्त संकुचित भावभूमि पर उपयोगी साहित्य का निर्माण हुआ। उसका मूल कारण अंग्रेज़ी-शिक्षा का माध्यम था। इधर कतिपय वर्षों में गद्य की यह शाखा बड़ी तेज गति से विकासोन्मुख हो रही है। युग की जिन व्यापक प्रवृत्तियों से काव्य प्रभावित हुआ, गद्य-साहित्य उसका अपवाद नहीं माना जा सकता। आधुनिक गद्य के विभिन्न अंगों पर यहाँ अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

कथा-साहित्य

कहानी—यद्यपि भारतेन्दु-युग से आधुनिक गद्य-साहित्य का विकास माना गया है, तो भी आधुनिक ढंग की कहानियाँ भारतेन्दु-युग में न लिखी गयीं; हाँ, आख्यायिकाएँ अवश्य लिखी गयीं। अन्य भाषा-भाषी लेखक, विशेषकर बंगलावाले अंग्रेज़ों के सम्पर्क में आ चुके थे, वहाँ अनूदित तथा मौलिक रचनाएँ लिखी जा रही थीं। हिंदी में गिरिजा-कुमार घोष, लाला पर्वतीनन्दन तथा पूर्णचन्द्र की स्त्री 'बंग-महिला' ने बंगला से कुछ अनुवाद प्रारम्भ किए। 'बंग महिला' ने मौलिक कहानियाँ भी लिखने का प्रयत्न किया, किन्तु वे बंगला की कहानियों के प्रभाव से अछूती नहीं कही जा सकतीं। तत्कालीन मौलिक कहानियों के विकास की अनुसूची आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नीचे लिखे ढंग से दी है :

इंदुमती—किशोरीलाल गोस्वामी सन् १६००, गुलबहार—किशोरीलाल गोस्वामी—सन् १६०२, प्लेग की चुड़ैल—मास्टर भगवानदास, मिर्जापुर—सन् १६०२, ग्यारह वर्ष का समय—रामचन्द्र शुक्ल—सन् १६०३, पंडित और पंडितानी—गिरिजादत्त वाजपेयी—सन् १६०३, दुलाईवाली—बंग महिला—सन् १६०७।

इन्हीं दिनों श्री सर्वविद्यानाथ शर्मा तथा मैथिलीशरण गुप्त का क्रमशः 'विद्याबहार', 'निन्यानवे का फेर' आदि उपदेशात्मक आख्यान प्रकाशित हुए। माधवप्रसाद मिश्र आख्यायिकाएँ ही लिखते रहे, विश्वम्भरनाथ जिज्जा तथा वृन्दावनलाल वर्मा की कहानियाँ भी इसी समय छपीं, पर इन सभी कहानियों में साहित्य और कला की दृष्टि से कोई ऐसी अभिनव बात नहीं थी, जिसके कारण उनका विशेष महत्त्व माना जाय, अपितु इन्हें प्रयोगकालीन रचना ही मानना श्रेयस्कर है। 'इन्दु' नामक मासिक पत्रिका के प्रकाशन (सन् १६०६) से कहानी के क्षेत्र में नये उत्थान की सूचना हिन्दी-जगत् को मिली। 'इन्दु' में सन् १६११ ई० में सर्वप्रथम 'प्रसाद' की पहली कहानी 'ग्राम' का प्रकाशन नयी ढंग की कहानियों का आदि-स्रोत माना जाता है। इस पत्रिका में उनकी चार और कहानियाँ इसी वर्ष प्रकाशित हुईं। ये पाँचों कहानियाँ 'छाया' नामक संग्रह में दूसरे वर्ष ही प्रकाशित हो गईं। हिन्दी के प्रायः सभी प्रारम्भिक अच्छे कहानीकारों की रचनाएँ भी इसी समय से प्रकाश में आने लगीं।

हिन्दी-कहानी के इस उत्थान के प्रमुख लेखक सन् १६२५ तक इस क्षेत्र में आ चुके थे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद लिखी गई कहानियाँ अत्यन्त प्रौढ़ लगती हैं। प्रारम्भ के समय लिखी गई कुछ कहानियाँ समय से बहुत आगे हैं। आज भी इन कहानियों में गुलेरीजी की 'उसने कहा था' हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है। इन कहानियों के गुण-धर्म का विवेचन करने पर प्रायः सभी कहानीकार चार वर्गों में आ जायेंगे। प्राचीन आलोचक इसे कहानी के स्कूलों में विभाजित करते हैं। यदि स्कूलों की शैली पर ही विभाजन किया जाय तो भी चार ही स्कूल ठहरते हैं—प्रसाद, प्रेमचन्द, उग्र और अनुवाद स्कूल।

अपनी अन्तर्भावनाओं को भावनामूलक शैली में, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उपस्थित करनेवाले कलाकार प्रसाद-स्कूल के अन्तर्गत आते हैं।

सामाजिक पृष्ठभूमि पर सोद्देश्य रचना करनेवालों के अन्तर्गत प्रेमचंद-स्कूल की मान्यता स्थापित होती है। जहाँ तक इस स्कूल का प्रश्न है, सामाजिक पृष्ठभूमि पर सभी प्रकार की रचनाएँ सुधारवादी दृष्टि से लिखी गयीं।

तीसरा स्कूल, जो 'उग्र' के नाम पर प्रतिष्ठित किया गया है, शैली और भाषा के चमत्कारवाले सामयिक चेतना से संवलित लेखकों का है। इसके अगुआ 'उग्र' ही हैं।

अनुवाद-स्कूल नामकरण उन लेखकों की रचनाओं के कारण रखना पड़ रहा है, जो हिंदी में मौलिक रचना कहकर विभिन्न भाषाओं से छाया या समूल अनुवाद करते रहे हैं।

इस युग में भावना-प्रधान कहानी लिखनेवालों में प्रसादजी जैसा कलाकार कोई भी नहीं हुआ। प्रसाद की प्रारंभिक कहानियाँ उनके विकास के बीज मात्र का संकेत करती हैं। बाद की उनकी रचनाएँ प्रौढ़ हैं। उनकी प्रारम्भिक कहानियों पर शिल्प की दृष्टि से बंगला का प्रभाव है। प्रसाद ने ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी पृष्ठभूमियाँ ली हैं, किंतु हृदय पर प्रभाव डालने वाली काव्यमय शैली में सर्वत्र उन्होंने अन्तर के चित्रों का मूर्त रूप प्रस्तुत किया। कहानी-कला की दृष्टि से वे एक महान् कलाकार के रूप में प्रकट हुए।

हिंदी-साहित्य के इतिहास में गुलेरीजी की 'उसने कहा था' कहानी एक बहुत बड़ी घटना के रूप में सदैव ग्रहण की जायेगी। उन्होंने हिंदी-कहानी-साहित्य की शैशवावस्था में जिस आदर्शोन्मुखी यथार्थ की प्रतिष्ठा अपनी इस कहानी में की है, उसकी ऊँचाई आज भी हिंदी की गिनी-चुनी कहानियों में अपने स्थान पर श्रेष्ठ है। इसके पूर्व वे दो कहानी और लिख चुके थे, पर वे कहानियाँ सामान्य कोटि की भद्दी और भोंड़ी भी हैं।

इसके पश्चात् उर्दू से आये प्रेमचंद का परिचय सन् १९१५ ई० में 'सौत' द्वारा हिंदी-जगत् को प्राप्त हुआ। वे इस उत्थान-काल में दलित, पीड़ित जनता की पुकार के सन्देशवाहक के रूप में प्रकट हुए तथा यथार्थ जीवन में आदर्श की प्रतिष्ठा का बीड़ा उन्होंने उठाया। हिंदी में लिखी गई अपने ढंग की कहानियों में उनकी कुछ कहानियों की ऊँचाई सर्वाधिक है। कौशिकजी यद्यपि इसी पद्धति पर कहानी लिखते थे, पर प्रेमचंद पहले से हिंदी में लिख रहे थे। इसी शैली के तीसरे प्रमुख लेखक सुदर्शन माने जाते हैं।

'उग्र' की कुछ कहानियाँ इतनी सुन्दर हैं कि उन्हें हिंदी की सर्व-श्रेष्ठ कहानियों की कोटि में निःसंकोच रखा जा सकता है। यद्यपि अतिशय यथार्थवादी तथा अक्खड़ व्यक्तित्व के कारण लोग उनके प्रति जैसी भावना रखते हैं, वैसी ही उनके साहित्य के प्रति भी व्यक्त करते हैं, तो भी उनके साहित्य का तटस्थ अध्येता निश्चय ही यह कहे बिना नहीं रह सकता कि वैसी प्रतिभा के साहित्यकार उस युग में एकाध ही पैदा हुए। इनकी भाषा का जादू, शैली का निजत्व, विषय का प्रति-पादन सभी-कुछ अपना है।

इस युग के कहानीकारों में रायकृष्णदास की दो-एक कहानियाँ कलात्मक अभिव्यक्ति के कारण अच्छी बन पड़ी हैं। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' अच्छे कथाकारों में गिने जाते हैं। प्रेम की टीस से भरी कहानी लिखने में स्वर्गीय विनोदशंकर व्यास की तत्कालीन सफलता भाव-नाओं की रेखा खींचने के कारण थी। यद्यपि जी० पी० श्रीवास्तव इस उत्थान-काल के हास्यरस के श्रेष्ठ कहानीकार समझे जाते हैं, तो भी यह सत्य है कि उन्होंने भड़उआ मात्र लिखा है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियाँ परिस्थिति के सुंदर चित्रों के कारण उत्कृष्ट हैं। इस उत्थान-काल के प्रमुख कहानी-लेखकों में जैनेन्द्रजी की गणना की जाती है। दार्शनिकता से बोझिल होने पर भी उनकी कुछ कहानियाँ अच्छी वन पड़ी हैं। हिंदी में स्वर्गीय चतुरसेन शास्त्री के प्रशंसकों की भी कमी नहीं। उन्हें केवल उस श्रेणी के कहानीकारों के अंतर्गत रखा जा सकता है जिनकी रचनाएँ केवल शैली के शिल्प-प्रदर्शन के लिए लिखी जाती

हैं। उनमें अपने को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह भाषा के जादूगर तथा भावों के खिलाड़ी हैं। वे निरंतर अपनी सरस रचनाओं द्वारा हिंदी वाङ्मय को भरते रहे हैं। वे अपनी भावनाओं के सफल चित्रकार हैं। बेनीपुरी ने कुछ अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। स्वर्गीय शिवपूजन सहायजी की कहानियाँ देहाती वातावरण का सजीव चित्र हैं। शैली, भावना एवं कथानक सभी दृष्टियों से उनकी कहानियाँ अत्यंत उत्कृष्ट हैं। इस भाँति कहानी के विकास का यह द्वितीय उत्थान-काल बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा।

हास्य और व्यंग्य की कहानियाँ इस युग में कम लिखी गयीं। श्री अन्नपूर्णानंद तथा बेढबजी इस उत्थान-काल के सर्वाधिक प्राणवान हास्य-कहानियों के रचयिता हैं।

इसके पश्चात् तृतीय उत्थान-काल आरंभ होता है। इस युग का कहानीकार अंग्रेज़ी के माध्यम से पश्चिमी जगत् के विकसित कथा-साहित्य से परिचित हो चुका था। विविध ढंग की कहानियों का जिस पैमाने पर इस युग में विकास हुआ, वह निश्चय ही बहुत बड़ी संपन्नता का परिचायक है। इस विविधता का रूप तो सन् १९२० की कहानियों के बाद ही से दीखने लगता है, पर उसका वास्तविक पल्लवन व्यापक रूप से सन् १९३० के बाद ही से प्रारंभ हो सका। इस युग में सेक्स से लेकर जनहित को प्रभावित करने वाली कहानियाँ लिखी गई। इस उत्थान-काल में सेक्स-संबंधी कहानियाँ, सामाजिक कहानियाँ, राजनीतिक कहानियाँ, मनोवैज्ञानिक कहानियाँ, दार्शनिक कहानियाँ तथा वादों के घेरे में लिखी गई सभी प्रकार की विविध विधाओं की कहानियाँ दीख पड़ेंगी। इस युग में पाँच-छः ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न महान् कहानीकार हिंदी-जगत् के सम्मुख आये, जिनकी गणना निश्चय ही बहुत समय तक श्रेष्ठ कथाकारों में की जाती रहेगी। इस युग के प्रमुख कहानीकारों में अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, बेढब, यशपाल, राधाकृष्ण आदि हैं। अज्ञेय की कहानियों में अंतर्मुखी वृत्तियों को अभिव्यक्त करने की अनोखी क्षमता है। भगवतीचरण वर्मा की कहानियाँ अपने भीतर विद्रोह की भावनाओं की अभिव्यक्ति छिपाये हुए हैं। बेढब ने

स्वस्थ हास्य की कहानियाँ अत्यंत सुंदर ढंग से उपस्थित कीं। बेढब की कहानियों में विविधता के साथ-साथ सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों पर व्यंग्य बड़े उच्च स्तर पर मिलता है।

इसी उत्थान-काल में यशपाल जैसा उच्चकोटि का कलाकार हुआ, वैसा सभी दृष्टियों से कोई अन्य नहीं दीखता। प्रवाहित प्राणवान भाषा में जीवनमय चित्रों के बीच आस्थापूर्ण मानवतावादी संदेश की वाहिका उनकी कहानियाँ हैं। वे कहीं-कहीं बहके भी हैं, दलगत राजनीति के प्रभाव के कारण, पर कलाकार यशपाल सर्वथा अपने ढंग का अकेला है तथा हिंदी की बहुत बड़ी सम्पत्ति है।

राधाकृष्ण की कहानियाँ प्रचारित न होने पर भी अत्यंत उच्चकोटि की हैं। 'घोष बोस बनर्जी' के नाम से हास्यमयी कहानियाँ तथा राधाकृष्ण के नाम से उन्होंने गंभीर कहानियों का सृजन किया। उनकी अधिकांश कहानियाँ सफल तथा पूर्ण हैं। सामान्यतः 'अश्क' की कहानियाँ भी अच्छी हैं। स्वर्गीय पं० बलदेवप्रसाद मिश्र की कहानियाँ मार्मिक, चुटीली तथा हृदय-मोहिनी हैं। इलाचंद्र जोशी मनोविज्ञान के पंडित अधिक तथा कहानीकार कम हैं। 'निर्गुण' की कहानियाँ सोद्देश्य सहृदय मन से लिखी गई हैं। रुद्र काशिकेय, भैरवप्रसाद गुप्त, मार्कण्डेय, कमल जोशी, सर्वेश्वरदयालसक्सेना, कमलेश्वर, मोहन राकेश, फणीश्वर नाथ रेणु, राजेंद्र यादव आदि मौलिक एवं सुंदर कहानियाँ प्रस्तुत कर रहे है, जिसमें आधुनिकता, आंचलिकता एवं शैली का वैविध्य है।

स्त्रियाँ भी इस क्षेत्र में आयीं जिनमें सुभद्राकुमारी चौहान, उषा-देवी मित्रा, होमवती, कमला त्रिवेणीशंकर, चंद्रकिरण सौनरिक्सा, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा आदि की कहानियाँ सम्मानित हुईं।

आज रचना-वैचित्र्य तथा अहंभावना से हिंदी-कहानीकार जैसी रचना कर रहे हैं, वह हिंदी-कहानी की व्यापकता को सीमित कर रहा है। यह प्रवृत्ति दुःखद है। कहानी नयी कहानी से अब तक की स्थिति तक पहुँच चुकी है।

हिंदी-कहानी का भविष्य अधिक मंगलमय दिखाई नहीं देता। एक ओर तो उसमें अति यथार्थवादी होने का आग्रह है, दूसरी ओर

वह अपने प्रधान गुण औत्सुक्य और कुतूहल को भी छोड़ती जा रही है। कहानी की यह गति उसे किस ओर ले जायेगी, कहना कठिन है। कल की कहानी और स्केच में कितना अंतर होगा ? दोनों के बीच की विभाजन-रेखा क्या होगी और जब अतियथार्थवाद के कारण कहानी केवल स्केच ही रह जायेगी, तब क्या उसकी सर्वप्रियता बनी रहेगी ? ये ऐसे विषय हैं जिन पर शीघ्र कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

कहानी पर दूसरा आक्रमण एकांकी-नाटकों का है। आज की परिस्थितियाँ भी एकांकी-नाटकों के विकास में सहायक हैं। उसका यह विकास भी कहानियों के भविष्य को धक्का देगा।

उपन्यास—इस युग में उपन्यास के क्षेत्र में जितना प्रणयन हुआ उतना अन्य किसी क्षेत्र में नहीं। थोड़े ही समय में जितनी विविध शैलियाँ इस क्षेत्र में दीख पड़ीं, उतनी अन्यत्र कहीं नहीं। प्राचीन समय में जो कार्य प्रबंध-काव्यों ने किया था, वही कार्य वर्तमान समय में उपन्यास कर रहे हैं। जनता का मनोरंजन करने तथा लेखकों को अनेक प्रकार की छूट मिलने के कारण जितना प्रचलन उपन्यासों का हुआ उतना अन्य साहित्यिक अंगों का नहीं। यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है कि इस युग के पूर्व व्यापक रूप से विभिन्न देशी भाषाओं तथा अंग्रेज़ी से अनुवाद-कार्य धड़ल्ले से होने लगा था। शिक्षा के प्रसार के कारण भी लोग अंग्रेज़ी के सीधे सम्पर्क में आ चुके थे। ऐसे ही समय प्रेमचन्द 'सेवासदन' नामक उपन्यास लेकर हिंदी के क्षेत्र में आये। यह हिंदी का पहला उपन्यास था जिसके कारण स्वस्थ उपन्यासों की परम्परा हिंदी में प्रवर्तित हुई। 'सेवासदन' सामाजिक विकृतियों, विशेषकर दहेज की विकृति पर लिखा गया ऐसा उपन्यास है जो व्यास शैली पर लिखा होने पर और उपदेशात्मक प्रवृत्ति से भरे रहने पर भी दहेज के प्रति व्यापक जन-चेतना का उद्‌बोध कराता है। इस उपन्यास में समाज-सुधार की प्रवृत्ति व्यापक रूप से दीख पड़ी तथा इसने मनुष्य के पारस्परिक संबंधों की मार्मिकता का परिचय कराया। प्रेमचन्द सामाजिक उत्कर्ष की पृष्ठभूमि पर सामाजिक जीवन की व्याख्या करने का प्रयत्न करते रहे। कहना न होगा कि उपन्यासों के क्षेत्र में प्रेमचन्दजी ने सामान्य

जनता के सुख-दुःख और आशा-आकांक्षाओं की भित्ति पर नयी चेतना जगाने का प्रयत्न किया। सन् १९२२ में उनका 'प्रेमाश्रम' प्रकाशित हुआ जो ग्रामीण किसानों के प्रति ज़मींदारों के अमानवीय संबंधों की कुत्सा प्रदर्शित करने के लिए लिखा गया। ग्रामीण किसान अपनी समस्त आपदाओं के साथ भारतीय परम्परा के अनुरूप वहाँ उपस्थित दिखाई पड़ता है। इनके 'रंगभूमि' नामक उपन्यास का विषय असहयोग-आंदोलन तथा अहिंसा-सिद्धांत का प्रतिपादन है। इस महान् सामाजिक कृतिकर्ता पर गांधी-दर्शन का व्यापक प्रभाव इस ग्रन्थ में स्पष्ट दीख पड़ता है तथा इस उपन्यास को प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कृतियों में चरित्र-चित्रण तथा विषय-विन्यास की दृष्टि से सर्वोत्तम कहा जा सकता है। सूरदास, सोफिया तथा जाह्नवी के चित्र बड़े ही सुंदर बन पड़े हैं, कथानक भी सुंदर ढंग से परिस्थितियों के बीच उपस्थित किया गया है। सन् १९२६, २८ और २९ में क्रमशः 'कायाकल्प', 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' का प्रकाशन हुआ। 'कायाकल्प' पुनर्जन्म के सिद्धांतों पर लिखा गया है तथा 'प्रतिज्ञा' और 'निर्मला' मानव के सामाजिक संबधों की व्याख्या करते है। उनकी कला का पूर्ण विकास 'गोदान' में दिखाई पड़ा। यह उपन्यास, जो सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ था, उनकी कला की पूर्णता पर पहुँचता है और सम्भवतः हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में से एक है। नागरिक जीवन की विकृतियों तथा ग्रामीण जीवन का जिस सुंदर ढंग से उन्होंने चित्र उपस्थित किया है, वह भारतीय साहित्य में विरल ही माना जाता है। होरी का चरित्र जितना सबल और प्राणवान है उतना प्राणवान और सबल चरित्र आधुनिक युग के कथा-साहित्य में एकाध उपन्यासों ही में दीख पड़ा। 'गबन' में नागरिक जीवन का चित्र अंकित करने में भी वे सफल हुए हैं।

प्रेमचंद पीड़ित मानवता के सन्देशवाहक तथा सर्वाधिक जनप्रिय उपन्यासकार के रूप में प्रकट हुए। उनके ऊपर तात्कालिक सामाजिक आन्दोलनों का प्रभाव पड़ा था। वे स्वयं एक ग्रामीण, त्रस्त, पढ़े-लिखे व्यक्ति थे। उन्होंने ग्राम-जीवन को निकट से देखा और समझा था तथा उसकी पीड़ा का अनुभव किया था। अतएव उन्हें विकृतियों की झलक

दिखाकर सुधारवादी आदर्शों की प्रतिष्ठा प्रिय थी। वे समाज के साथ चलने वाले, यथार्थ की अभिव्यक्ति करने वाले कलाकार थे। उनकी व्यापक समाज-चेतना ने उपन्यास-कला के द्वारा जिस साहित्यिक निर्माण का सफल अनुष्ठान किया वह निश्चय ही हिन्दी के लिए अमर है—गौरव की वस्तु है।

उनके साथ ही जिन्होंने साहित्य के इस क्षेत्र में भी युग-प्रवर्तन किया, वे हैं प्रसादजी। प्रायः प्रेमचंदजी तथा उनके सामयिक साहित्यकार यह समझा करते थे कि प्रसादजी 'गड़े मुर्दे उखाड़ने वाले' कलाकार हैं। पर अपने दो उपन्यासों द्वारा समाज के जिन यथार्थ चित्रों को उन्होंने प्रस्तुत किया उसे देखकर प्रेमचंदजी भी सहम उठे। 'कंकाल' और 'तितली' जिस सामाजिक विकृति के चित्रों की ओर संकेत करते हैं, वे

जिक जीवन का सुंदर चित्र उपस्थित किया।

यथार्थवादी चित्रण की दृष्टि से प्रतापनारायण श्रीवास्तव को भी बड़ी सफलता 'विदा' के द्वारा मिली। 'विदा' उपन्यास नागरिक जीवन की विकृति का अत्यंत सुंदर चित्र उपस्थित करता है तथा उसके खोखलेपन के चित्रण में पूर्ण सफल है। चरित्र-चित्रण भी अच्छे बन पड़े हैं।

उग्रजी को सामाजिक उपन्यास लिखनेवालों में अत्यंत ख्याति प्राप्त हुई। उन्होंने वासनाजन्य काम का आकर्षण तथा समाज में व्याप्त

तत्संबंधी विकृतियों के अतिशय यथार्थ चित्र उपस्थित किए, जो लोगों को प्रिय भी लगे। 'चंद हसीनों के खतूत', 'दिल्ली का दलाल' और 'बुधुआ की बेटी' अत्यंत प्रिय हुए।

इसके पश्चात् हिंदी में उपन्यासों की धारा अत्यंत विस्तृत हो जाती है। जैनेन्द्रकुमार का 'परख' हिंदी का पहला मनोवैज्ञानिक उपन्यास माना जाता है। बिहारी और कन्नू के चरित्र जिस आंतरिक चिंतन की भावनाओं का संकेत देते हैं तथा जिन मानसिक उद्‌बोधनों का संकेत करते हैं वे हिंदी के लिए गौरव की वस्तु हैं। स्वर्गीय चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार की उनकी कहानियाँ। शैली की दृष्टि से तड़क-भड़क वाले पंडिताऊ विशद वर्णन की शैली के चंडीप्रसाद 'हृदयेश' के 'मंगलप्रभात' नामक उपन्यास का नाम भी इतिहास-ग्रंथों में लेने योग्य है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में वृन्दावनलाल वर्मा इस युग की महान् देन हैं। यद्यपि उनकी भाषा असमान तथा व्याकरण के नियमों से प्रायः अपरिचित है, किंतु इतना प्यारा ऐतिहासिक कथाकार हिंदी में दूसरा कोई नहीं हुआ। इन्होंने नाटक, सामाजिक उपन्यास और कहानियाँ भी लिखी हैं। उनका 'मृगनयनी' नामक उपन्यास हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासों में सभी दृष्टि से उत्कृष्ट है। उनका पहला उपन्यास 'लगन' सन् १९२९ में प्रकाशित हुआ। उनके प्रमुख उपन्यासों के नाम हैं—'गढ़कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'रानी लक्ष्मीबाई', 'सोना', 'अमर बेल,' आदि। वे निरंतर इस क्षेत्र में व्यापक रूप से कार्य कर रहे हैं।

अज्ञेय और इलाचंद्र जोशी की चर्चा भी उपन्यासकार के रूप में होती है। इलाचद्र जोशी फ्रायड तथा मनोविज्ञान के विभिन्न सिद्धांतों के ज्ञाता हैं। जोशीजी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक सत्य की अभिव्यक्ति करते हैं। जिस प्रकार जैनेन्द्र अपने उपन्यासों में दर्शन के व्याख्याता हैं, उसी प्रकार ये मनोविज्ञान के। 'निर्वासिता' इनकी प्रमुख कृति है। उपन्यासकार के रूप में इन्हें सफलता नहीं मिली। अज्ञेय एक सफल कहानीकार ही नहीं, 'शेखर : एक जीवनी' के दो भागों द्वारा उन्होंने अपने को एक

अच्छा उपन्यासकार भी प्रमाणित किया है। इनके इस उपन्यास में तकनीक और कथा का, अर्द्धचेतन प्राणी के संकल्प और विकल्प का तथा चरित्र का सुन्दर एवं प्राणमय संयोग है । भाषा दोषों के होते हुए भी उनकी शैली नवीन आकर्षण लिये हुए है । उनका नवीन उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' उनकी प्रतिभा के ह्रास का परिचायक है, यद्यपि कुछ लोग 'नदी के द्वीप' से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे ।

यशपाल हिंदी का वह कथाकार है जो प्रेमचंद की ही भाँति हिंदी की सम्पदा हैं । यद्यपि यशपाल मार्क्स के भौतिक दर्शन से अत्यंत प्रभावित दीखते हैं, तो भी जहाँ तक उनकी उपन्यास-रचना का प्रश्न है, वे सभी दृष्टियों से मौलिक होते हुए भी अनुपमेय हैं । उनके उपन्यासों में 'दादा कामरेड,' 'देशद्रोही', 'दिव्या' हिंदी की अक्षय निधि हैं । उनकी विशेषता सुंदर, सजीव शैली, कथा का मनमोहक गुंफन तथा अपने आदर्श की सुरुचि-पूर्ण प्रतिष्ठा है; पर कहीं-कहीं वे प्रचारक तथा काम-वासना के चित्रकार के रूप में प्रकट हो जाते है । यह बात भारत के साहित्यकारों के लिए अच्छी नहीं । हास्य-उपन्यास-लेखकों में बेढबजी की कृति 'लफ्टंट पिगसन की डायरी' एकमात्र हिंदी का प्रौढ़, स्वस्थ, सुंदर हास्य-उपन्यास है । उपन्यासों के सहारे व्यंग्य द्वारा मनोरजक ढंग से समाज-सुधार की भावना से अनुप्राणित लेखक इस उपन्यास के द्वारा हिंदी के बहुत बड़े अभाव को पूरा करता है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक सुंदर उपन्यास है । भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' लोकप्रियता तथा कला की दृष्टि से अत्यंत प्रचारित हो चुकी है । उनके 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'तीन वर्ष' भी अच्छे उपन्यास हैं । वे सामाजिक आदर्शों का विवेचन कर साम्यवादी, अराजकतावादी तथा गांधी-दर्शन के युग-संघर्ष को व्यंग्यात्मक और मनोरंजक ढंग से व्यक्त करने में अत्यंत सफल रहे हैं । भगवतीप्रसाद वाजपेयी भी हिंदी के प्रसिद्ध उपन्यासकार माने जाते हैं, किंतु उनकी कृतियाँ सामान्यतः मध्यम श्रेणी की हैं । उपेन्द्रनाथ 'अश्क' अपने उपन्यास 'गिरती दीवारें' के कारण काफी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं । पंजाब के मध्यवर्गीय जीवन की विकृत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, विशेषकर कामवासना की तृप्ति और जीवन-

यापन का प्रश्न उनके उपन्यासों का विषय है। वे मार्क्स और फ्रायड के विचारों से अत्यंत प्रभावित हैं।

सियारामशरण गुप्त को सामान्य और निरालाजी को बहुत बड़ी सफलता प्राप्त हुई। निराला के उपन्यास प्राणवान प्रेरणा से सम्पन्न कर्मवादी जीवन की अभिव्यक्ति तथा अपनी मौलिक गद्य-शैली के कारण महत्त्व के हैं।

कहा जा सकता है कि इधर हिंदी का उपन्यास-साहित्य जितना समृद्ध हुआ उतना कोई अन्य अंग नही। हिंदी में वैज्ञानिक उपन्यासों का क्षेत्र एकदम सूना है। अभी १९५३ ई० में सुप्रसिद्ध दार्शनिक और विद्वान डॉ० संपूर्णानंद ने अपनी कृति 'पृथिवी से सप्तर्षि मडल तक द्वारा' इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न किया। यह हिंदी का एकमात्र वैज्ञानिक उपन्यास अपने ढंग का अकेला, अनूठा और सुंदर है। नागार्जुन एवं रांगेय राघव के उपन्यास भी अच्छे हैं। वतमान उपन्यासकारों में अपनी नयी शैली, विषय की विविधता तथा क्षेत्रीय प्रभाव की व्यापकता 'रुद्र', फणीश्वरनाथ रेणु, धर्मवीर भारती, देवेन्द्र सत्यार्थी, भैरवप्रसाद गुप्त तथा नागार्जुन के उपन्यासों में है।

नाटक

बाबू हरिश्चंद्र, राधाकृष्ण दास और श्रीनिवासदास के पश्चात् हिंदी का नाट्य-क्षेत्र प्रथम विश्वयुद्ध के बाद तक सूना ही रहा। नाटक पारसी कम्पनियों के स्टेज के लिए आगा हश्र कश्मीरी, जौहर, राधेश्याम, 'बेताब' आदि द्वारा लिखे गये; पर उनका न तो साहित्यिक महत्त्व रहा, न सभ्य और पढ़े-लिखे समाज के लिए उनमें किसी प्रकार का आकर्षण रहा। अंग्रेज़ी से प्रभावित होकर सर्वश्री द्विजेन्द्रलाल राय एवं गिरीशचंद्र आदि ने बंगला में नाटक-साहित्य का प्रणयन किया। उनका अनुवाद हिंदी में अधिकाधिक प्रचलित हुआ। अंग्रेज़ी से सीधे संपर्क स्थापित हो जाने के कारण शेक्सपीयर, शा और इब्सन की कृतियों से भी प्रभावित हुआ। उधर संस्कृत का नाटक साहित्य अत्यंत विकसित था। पश्चिमी नाटक जहाँ राजनीति-प्रधान भौतिक विकासवादी सभ्यता के प्रतिफल

हैं, वहीं पूरब के नाटक महान् दार्शनिक रससिक्त वातावरण के सदेश-वाहक। पूर्व-पश्चिम का संयोग सामाजिक जीवन मात्र में ही नहीं हो रहा था, अपितु सांस्कृतिक संगम का भी दृश्य उपस्थित था।

रंगमंच के विकास में बाधा थी तथा चलचित्रों ने सस्ते, हल्के मनोरंजन एवं अपनी व्यापकता के कारण रंगमंच के विकास में बाधा पहुँचायी। ऐसी संक्रमणकालीन परिस्थिति में नाटककार के रूप में प्रसाद-जी के जीवन का प्रारंभिक काल साहित्यिक तैयारी का समय था और उस समय ही उन्होंने भावी निर्माण का संकेत सामान्य रूप से इस क्षेत्र में भी किया। वे निर्विवाद रूप से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। प्रारंभ में प्रायोगिक रूप में उन्होंने लघु नाटक लिखे। 'राज्यश्री' के द्वारा उनकी पूर्ण प्रतिभा का विकास दिखाई पड़ा। राज्यश्री कन्नौज के सम्राट् हर्ष की विधवा बहन थी तथा नाटकीय व्यक्तित्ववाली ऐतिहासिक बुद्धिमती नायिका को इस नाटक का आधार बनाकर एक मौलिक प्रणयन किया गया। इसके बाद इनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'अजातशत्रु' का प्रकाशन हुआ। तात्कालिक राजनीति का दर्शन तथा अजातशत्रु के चित्रण का सम्मोहक प्रयत्न इसमें किया गया है। तत्पश्चात् हिंदी का अत्यंत प्रमुख नाटक 'स्कंदगुप्त' लोगों के सामने आया। स्कंदगुप्त ने हूणों से देश को मुक्त करने का ऐतिहासिक कार्य किया है। लेखक ने स्कंदगुप्त का चरित्र-चित्रण पूर्णता पर पहुंचा दिया है। इसके पश्चात् 'चंद्रगुप्त' जैसी विशिष्ट कृति हिंदी-जगत् के सामने आयी। इस कृति में चाणक्य का जितना सुंदर चरित्र उपस्थित किया गया है उतना सुन्दर चरित्र इस महान् राजनीतिक महापुरुष का हिंदी में उपस्थित ही नहीं किया गया। कल्याणी का चरित्र भी अत्यंत मनमोहक है। उनकी पहले की कृति 'जनमेजय का नागयज्ञ' में जनमेजय द्वारा परीक्षित की हत्या के कारण प्रतिहिंसापूर्ण नागों के ध्वंस का वर्णन किया गया है। प्रसाद के अन्य नाटक हैं—'एक घूंट', 'विशाख' और 'कामना'।

प्रसाद ने भारतीय इतिहास के स्वर्णकालीन अंशों से कथावस्तु का चयन किया है। कथा के निर्माण में यद्यपि उन्होंने कथासूत्र जोड़ने के लिये कल्पना का सहारा भी लिया है, साथ ही गंभीर अध्ययन, मनन

और चिंतन द्वारा इतिहास की बहुत बड़ी सामग्री पर प्रकाश डाला है। उनके नाटकों में वातावरण की सजीवता वैविध्य के साथ है। उन्होंने जीवन के अंतर्द्वन्द्वों एवं विषम परिस्थितियों के बीच सजीव चरित्रों का निर्माण किया है और वे अत्यंत प्रभावशाली, उदात्त एवं प्रेरणाशाली हैं। वे इतिहास से उन चरित्रों को ढूंढ-ढूंढकर सामने लाते थे जो देश के वर्तमान निर्माण में प्रेरणा के संदेशवाहक बन सकते थे।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने मध्यकालीन इतिहास से अपने नाटकों की सामग्री एकत्र की है। प्रायः मुस्लिम-युग के चरित्र उनके नाटक की आधार-शिलाएँ हैं। उनका सर्वोत्कृष्ट नाटक 'रक्षाबंधन' माना जाता है। यद्यपि उनके नाटक रंगमंच पर अधिक सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं, फिर भी वे अपने नाटकों में उतना बड़ा संदेश नहीं दे पाते, जो सदेश प्रसादजी ने अपने नाटकों द्वारा हिंदी को दिया है। दूसरे ऐतिहासिक नाटककार श्री वृन्दावनलाल वर्मा है। इन्हें नाटकों में सफलता न मिल सकी। सेठ गोविन्ददास ने ऐतिहासिक तथा सामाजिक सभी प्रकार के नाटक लिखे।

गोविंदवल्लभ पन्त का मार्कण्डेयपुराण पर आधृत 'वरमाला', राजस्थान की पन्ना धाय पर आधृत 'राजमुकुट' तथा सामाजिक नाटक 'अंगूर की बेटी' सुधार की भावना से अनुप्राणित हैं। ये अनेक बार रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत भी हो चुके हैं। पंडित सीताराम चतुर्वेदी हिंदी के नाटककारों में नाट्यशास्त्र तथा रंगमंच के पंडित एवं सफल अभिनेता हैं। उन्होंने बीसियों नाटक लिखे हैं, जिनका सफलतापूर्वक अभिनय भी हुआ है।

उग्र ने इस क्षेत्र में भी 'महात्मा ईसा' लिखकर अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा की छाप लगा दी। पंडित बद्रीनाथ भट्ट और माखनलाल चतुर्वेदी के नाटक अत्यंत सामान्य कोटि के हैं। जी०पी० श्रीवास्तव ने भी प्रहसन के नाम पर भड़उआ की सृष्टि की है। हास्यरस के प्रहसन लिखने में तथा उनके सफलतापूर्वक अभिनीत होने में बेढबजी के प्रहसन बेजोड़ हैं। अश्क ने भी कुछ हास्य के सामान्य महत्त्व के प्रहसन लिखे हैं।

पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र की महत्ता इब्सन और शा की शैली पर बुद्धि-चेतना का निरूपण करनेवाले समस्या-नाटकों के आदि-लेखक के

रूप में ऐतिहासिक हो चुकी है। उनके नाटकों में सामाजिक समस्याएँ मिलती हैं और उन्हें उनमें सफलता भी मिली है। उनकी शैली अपनी है, वार्ता ज़ोरदार है, स्वगत-भाषण आदि के अमनोवैज्ञानिक तथ्यों से वे बचे हैं, फिर भी उनमें स्व की अभिव्यक्ति इतनी गहरी है कि सभी चरित्र उनकी मनोधारा से प्रभावित हैं। उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रह पाता। इधर उनके बहुत से सुन्दर ऐतिहासिक नाटक निकले हैं, जिन्हें प्रसाद की शैली का विकास कहा जा सकता है। अपनी कमज़ोरियों के बाद भी प्रसादजी के बाद पं० लक्ष्मनारायण मिश्र का नाम ही लिया जा सकता है, जिन्होंने हिंदी-नाट्य-साहित्य को कुछ दिया है। श्री उदयशंकर भट्ट के पौराणिक नाटक अच्छे बन पड़े हैं, श्री सुमित्रानंदन पंत का गीतिनाट्य 'ज्योत्स्ना' भी महत्त्व का है। श्री जगदीशचन्द माथुर ने 'कोणार्क' नामक महत्त्वपूर्ण नाटक लिखा है। सन् १९५२ में प्रकाशित 'अवशेष' तकनीक तथा अन्य दृष्टियों से महत्त्व का है।

एकांकी—एकांकियों की इधर थोड़े ही दिनों में बाढ़-सी आ गई है। छोटी कहानियों का जो महत्त्व कथा-साहित्य में है, वही महत्त्व एकांकी का नाटकों के क्षेत्र में है। डॉ० रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, 'मिलिंद', उदयशंकर भट्ट, अश्क, विष्णु प्रभाकर, बेढब, सेठ गोविंद-दास आदि हिंदी के अच्छे जाने-माने एकांकी नाटककार हैं जिनमें सभी, अलग-अलग दृष्टिकोणों से अच्छे हैं।

जब तक हिंदी में रंगमंच का स्वस्थ विकास नहीं हो जाता, तब तक अच्छे नाटकों के निर्माण का प्रश्न अत्यंत दुरूह है। इधर जितनी कृतियाँ प्रकाश में आ रही हैं उनमें पूर्ण नाटक संभवतः वर्ष में एकाध ही निकल पा रहे है। हिंदी का अपना रंगमंच हो जाने पर इस क्षेत्र में व्यापक विकास की संभावना है, अन्यथा यह क्षेत्र वीरान ही दीखता है।

निबन्ध—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समसामयिक लेखकों में कुछ अच्छे निबंधकार भी हुए। श्री बालमुकुंद गुप्त (स० १९२२ से ६४) उर्दू से प्रभावित कुशल लेखक एवं अनुभवी संपादक थे। द्विवेदी-जी से भाषा और व्याकरण के प्रश्न को लेकर इनका विवाद भी चलता था। चुहचुहाती भाषा में इनका 'शिवशंभू का चिट्ठा' अपने समय में

काफी विख्यात हुआ। वे वर्णनात्मक निबंधकार थे। दूसरे लेखक पं० गोविंदनारायण मिश्र थे। बाण और दंडी को आदर्श मानकर पंडिताऊ शैली में, जिसमें ब्रजभाषा का भी घोल मिला रहता था, अनेक निबन्ध इन्होंने लिखे। बाबू श्याम सुंदरदास आधुनिक हिंदी के बहुत बड़े लेखक तथा प्रतिष्ठापकों में थे। उन्होंने नाना प्रकार के श्रेष्ठ निबंध लिखे। पंडितचंद्रधर शर्मा गुलेरी संस्कृत के विद्वान एवं पंडित थे। इनके लेख पांडित्यपूर्ण तथा विशेषता से युक्त होते थे। इनके संबंध में शुक्लजी का मत यहाँ उपस्थित किया जा रहा है, यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरीजी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं। सरदार पूर्णसिंह यद्यपि बहुत थोड़े निबंध लिख सके, किंतु एक नयी शैली के जन्मदाता के रूप में उनका सदैव हिंदी-साहित्य में स्मरण किया जाता रहेगा। लाक्षणिकता-प्रधान शैली में विचारों और भावों का एक अपूर्व सौंदर्य भावात्मक पद्धति पर अभिव्यक्त उनके निबधों में मिलता है। हिंदी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसा प्रौढ़ गंभीर निबन्धकार भी इस युग में ही प्राप्त हुआ। उनके निबंधों ने हिंदी को ऐसी शक्ति प्रदान की जिसके द्वारा गंभीर विषयों पर भी अत्यंत गंभीरतापूर्वक विचार अभिव्यक्त करने में हिंदी-साहित्य पूर्ण समर्थ हो सका। प्रसाद ने अनेक सुन्दर निबन्धों का प्रणयन किया। निराला, पंत, महादेवी तथा दिनकर भी निबन्धकार के रूप में हिंदी-जगत् के सामने आए।

छायावाद-युग में रवीन्द्रनाथ टैगोर से प्रभावित होकर गद्यगीतों के लिखने का एक नया फैशन दीख पड़ा। उसका उस समय न तो वर्तमान था, न कोई भविष्य ही। रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, आदि गद्यगीत-लेखक हैं।

डॉ० रघुबीरसिंह ने भावात्मक ढंग से 'शेष स्मृतियाँ' में मुगल काल के जीवन के विभिन्न चित्रों को उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। स्व० सियारामशरण गुप्त ने भी कुछ निबंध लिखे। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के निबंध गंभीर, सुन्दर और आकर्षक हैं। स्वर्गीय गुलाबराय के निबंध भी गम्भीर तथा अच्छे हैं। डॉ० सम्पूर्णानन्द के निबन्ध गम्भीर, प्रौढ़ शैली में चिंतन-प्रधान, अध्ययनपूर्ण अभि-

व्यक्ति के कारण स्थायी महत्व के हैं। पंडित नंददुलारे वाजपेयी सजीव शैली में लिखनेवाले तथा छायावाद को प्रतिष्ठित करनेवाले लेखकों में अत्यंत महत्त्व के हैं। उनकी भाषा में अभिव्यक्ति की क्षमता तथा विचारों में प्रौढ़ता है। शांतिप्रिय द्विवेदी ने भावनाप्रधान निबंधों की रचना की है। शैली की विशिष्टता भावात्मकता के संयोग से उपादेय एवं आकर्षक हो उठी है। स्व० पंडित चंद्रबली पांडेय की अपनी निजी शैली है जो दुरूह है; किंतु उनके निबंधों द्वारा हिंदी का बड़ा उपकार हुआ है। गंभीर अध्ययन से उनके निबंध सर्वत्र भरे रहते हैं। पंडित हजारी-प्रसाद द्विवेदी ख्यातिप्राप्त निबंधकार हैं। भावनाओं के वेग में वे बह जाते हैं, किंतु उनकी शैली इतनी सूक्ष्म है कि सामान्य अध्येता को भी बहुत दूर तक अपने साथ बहा ले जाती है। उन्होंने आत्मव्यंजक निबंधों में विशिष्टता प्राप्त की है।

डॉ० नगेंद्र के निबंध भी बड़े महत्त्व के हैं। वाङ्मय के विभिन्न अंगों पर इनके बराबर निबंध निकलते रहते हैं। यहाँ केवल साहित्यिक निबंधों का ध्यान रखा गया है। हिंदी में संस्मरणात्मक निबंध लिखने वालों में पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आदि अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने भी काफी परिश्रम से साक्षात्कारों पर निबंध लिखे हैं। सर्वश्री शिवपूजन सहाय, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, रायकृष्णदास, उग्र, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान आदि ने भी समय-समय पर अच्छे निबंध लिखे हैं।

द्विवेदी-युग में हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में भी वैसी ही ऐतिहासिक महत्त्व की प्रतिभाएँ दीख पड़ीं जैसी साहित्य के अन्य क्षेत्रों में। आलोचना के क्षेत्र में आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल का कार्य अनुपम महत्त्व का रहा है। उन्होंने तत्कालीन तुलनात्मक आलोचना-पद्धति के द्वारा युग को दृष्टिदान दिया। अपनी गम्भीर विश्लेषणात्मक आलोचना-कृतियों द्वारा उन्होने हिन्दी के इस अंग को अत्यन्त सम्पुष्ट किया। उनकी देन इतनी महती है कि उनकी तुलना में इस क्षेत्र में अन्य किसी भी आलोचक का नाम नहीं लिया जा सकता। पश्चिमी समीक्षाशास्त्र का उपयोग उन्होंने भारतीय दृष्टि से युग के अनुरूप किया है।

जहाँ तक सैद्धान्तिक विवेचन का प्रश्न है, काव्य में रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद तथा बाद में प्रकाशित रस-सम्बन्धी पुस्तक 'रस-मीमांसा' हिन्दी को उनकी वह देन है, जिसके कारण राष्ट्रभाषा गौरवान्वित रहेगी। 'चिंतामणि' के निबन्ध साहित्यिक सिद्धान्तों की भूमिका के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। इतने गम्भीर निबन्ध हिन्दी में नहीं लिखे गये। तुलसीदास और सूरदास पर लिखी गई उनकी पुस्तकें तथा जायसी की भूमिका उनके महान् पांडित्य का प्रतीक हैं।

बाबू श्यामसुंदर दास उस व्यक्तित्व के साहित्य-निर्माता थे जिसने खड़ीबोली की बीसवीं शती में अप्रतिम सेवा की। वे न केवल निबन्धकार, आलोचक तथा प्राचीन साहित्य के उद्धारक मात्र थे, अपितु उन्होंने नवयुवकों को उनकी प्रतिभा के अनुरूप हिन्दी की सेवा में भी लगाया। ऐसे लोगों में आधुनिक हिन्दी के अनेक विशिष्ट साहित्यकार आते हैं। डॉ० बड़थ्वाल, डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० नंददुलारे वाजपेयी और श्री पुरुषोत्तम एम० ए० उनकी खोज के परिणाम हैं। शुक्लजी को भी इस क्षेत्र में उन्होंने बढ़ाया। साहित्यिक सिद्धान्तों के ऊपर उनकी कृति 'साहित्यालोचन' आज भी अपने स्थान पर अकेली कृति है। उनकी आलोचना अत्यन्त सरल समीक्षा-पद्धति पर होती थी। शैक्षिक से लेकर गवेषणात्मक शोध तक उन्होंने लिखा।

समीक्षा की जो गवेषणात्मक शैली शुक्लजी में दीखी वह बाद में हिन्दी के लिए दुर्लभ हो गई। किन्तु बाद में आलोचना-सम्बन्धी कितनी ही कृतियाँ निकलीं और निकल रही हैं, उन्हें देखते हुए उस युग को आलोचना-युग भी कह सकते हैं। समीक्षा की जितनी विविध प्रणालियों का दर्शन हिन्दी के इस युग में हुआ वह अत्यन्त गौरव की बात है। बाज़ारू आलोचना से लेकर गम्भीर साहित्यिक आलोचना तक का दर्शन इस युग में हुआ, तब से व्यापक रूप से आलोचनात्मक रचनाएँ हिन्दी में निरन्तर निकल रही हैं। डॉ० बड़थ्वाल हिन्दी के विशिष्ट आलोचक थे। वह बहुत कम आयु में ही स्वर्गवासी हुए। उन्होंने संत-साहित्य के संबंध में हिंदी में गवेषणात्मक सामग्री प्रस्तुत की। छायावाद के प्रारम्भिक आलोचक के रूप में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी हिंदी-जगत् के सम्मुख

आये। वे साहित्य की पद्धति पर आधुनिक हिन्दी-साहित्य की आलोचना करने वाले प्रमुख आलोचक हैं। आधुनिक दृष्टि के सामंजस्य से लिखी गयी हिन्दी में उनकी आलोचनाएँ विशेष रूप से समादृत हैं, यद्यपि उन्होंने 'सूरसागर' का सम्पादन भी किया है और सूर पर एक पुस्तक भी लिखी है। उनके जैसे सक्षम स्पष्ट आलोचक हिन्दी में कम हैं। उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं—'हिन्दी साहित्य', 'बीसवीं शताब्दी', 'जयशंकर प्रसाद', 'आधुनिक साहित्य','प्रेमचन्द' आदि, । डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा की कृतियाँ भी प्रौढ़ता की दृष्टि से विशेष समादृत हैं । विश्लेषण-प्रधान आलोचकों में उनका प्रमुख स्थान है । उनकी चार पुस्तकें हिन्दी-जगत् के सम्मुख आयीं—'हिन्दी गद्य शैली का विकास', 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', 'आधुनिक हिन्दी के गद्य-निर्माता' 'तथा' 'कहानी का रचना-विधान'। ये चारों पुस्तकें अपने विषय पर बेजोड़ ग्रन्थ अब भी हैं। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र हिन्दी-जगत् के जाने-माने पंडितों में प्रमुख हैं । उनकी आलोचना विशुद्ध भारतीय दृष्टि पर आधृत है । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी के ख्यातिलब्ध आलोचक हैं । 'हिंदी साहित्य का आदि-काल' तथा 'हिंदी साहित्य की भूमिका' उनकी दो विशिष्ट कृतियाँ है । उन्होंने 'हिंदी साहित्य' नाम से हिंदी-साहित्य का इतिहास भी लिखा है। उनकी समीक्षा-पद्धति प्रभाववादी समीक्षा के प्रयोग का परिणाम है । कहीं-कहीं वह आलोच्य वस्तु की अत्यंत गहरी नींव देकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं और कहीं-कहीं भावनाओं में बह जाते हैं । उनकी आलोचना में अभिव्यक्ति की क्षमता है । डॉ० नगेन्द्र आधुनिक हिंदी-साहित्य के विशिष्ट आलोचकों में भी अत्यंत समादृत हैं । डॉ० नगेन्द्र की लिखी गई आलोचना पुस्तक उनकी विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक गंभीर समीक्षा-शक्ति का सजीव आख्यान करती है । नगेंद्र का स्थान समवयस्क आलोचकों में अत्यंत विशिष्ट है ।

मार्क्स के सिद्धांत को आधार बनाकर आलोचना करने वालों में, कम्युनिस्ट दृष्टि के प्रतिनिधि आलोचकों में डॉ० रामविलास शर्मा और श्री प्रकाशचंद्र गुप्त हैं । ये बँधी हुई परिधि में साहित्य की आलोचना करते हैं। श्री शिवदानसिंह चौहान भी मार्क्स के सिद्धांतों से प्रभावित हैं।

स्वर्गीय चंद्रबली पांडेय हिन्दी की वह विभूति थे जो ऐतिहासिक महत्त्व के साहित्यिक विषयों पर अत्यंत गंभीरतापूर्वक अनुसंधान-लेख खंडन-मंडन करते हुए लिखते थे। 'तसव्वुफ' अथवा 'सूफीमत' और 'शूद्रक' उनकी दो महत्तम कृतियां हैं। राष्ट्रभाषा के लिए आंदोलन करने वाले अपने ढंग के वे अकेले व्यक्ति थे।

भावात्मक समीक्षा के हिंदी में प्रवर्तक पं० शांतिप्रिय द्विवेदी की आलोचना में गद्यगीत का आनंद रहता है। उनकी आलोचना रसमय होती है। उनके संस्मरण साहित्यिक महत्त्व के हैं। स्व० गुलाबराय एम० ए० ने महत्त्वपूर्ण गंभीर आलोचनाएँ लिखी हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा भी सामान्यतः अच्छे आलोचक हैं। श्री केशरीनारायण शुक्ल की आलोचना-पुस्तकें उनके अध्ययन की परिचायक हैं। पं० बलदेव उपाध्याय की 'भारतीय साहित्यशास्त्र' विशिष्ट रचना है। पं० सीताराम चतुर्वेदी ने 'भारतीय नाट्यशास्त्र' तथा 'समीक्षाशास्त्र' द्वारा हिंदी वाङ्मय को संपन्न किया है।

सर्वश्री डॉ० धीरेंद्र वर्मा, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० वार्ष्णेय, शिलीमुख, रामनाथ सुमन, डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, स्व० ललिताप्रसाद सुकुल, डॉ० नलिनविलोचन शर्मा, जगन्नाथप्रसाद मिश्र, दीनदयाल गुप्त, रामबहोरी शुक्ल आदि की गणना हिंदी के प्रमुख निबंधकारों तथा आलोचकों में की जाती है। ऐसे तो कोई जाना-माना साहित्यिक शायद ही छूटा हो, जिसने किसी-न-किसी रूप में इस युग में आलोचना न लिखी हो। सबकी कृतियों का विशद विवेचन इस पुस्तक की परिधि में संभव नहीं।

जब से भारत स्वतंत्र हुआ है तथा राष्ट्रभाषा हिंदी हुई है, तब से व्यापक पैमाने पर चतुर्दिक् कार्य हो रहा है। जिन संभावनाओं और कल्पनाओं के आधार पर इस समय लोग राष्ट्रभाषा के निर्माण-कार्य में जुटे हुए हैं, उसे देखते हुए सुंदर भविष्य की कल्पना सहज ही की जा सकती है।

●